यतिवर-श्री मधुसूदनसरस्वती-विरचित

श्रीभगवद्भक्तिरसायन

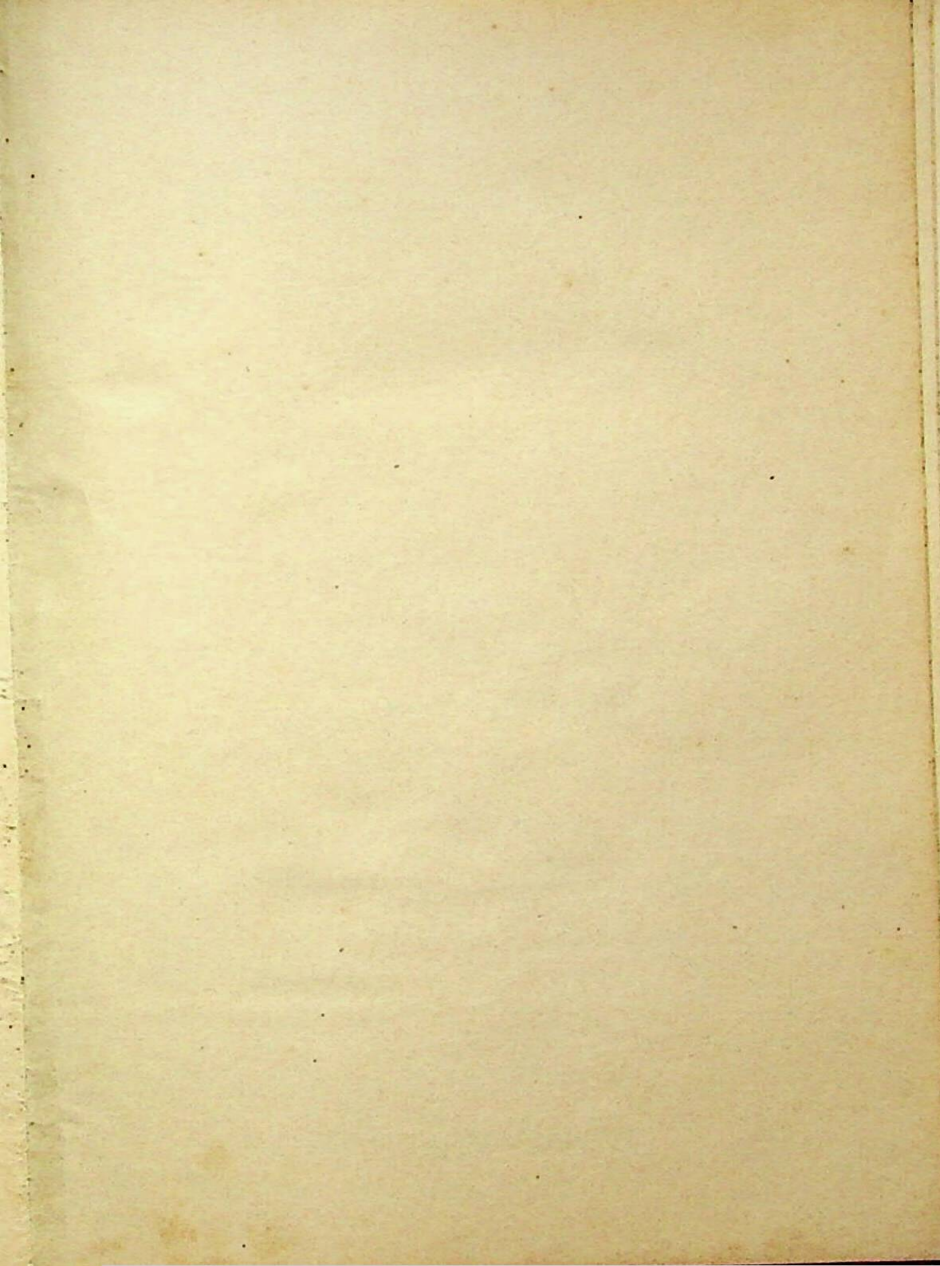
(स्वोपज्ञटीका, अनुवाद एवं विवृति सहित)

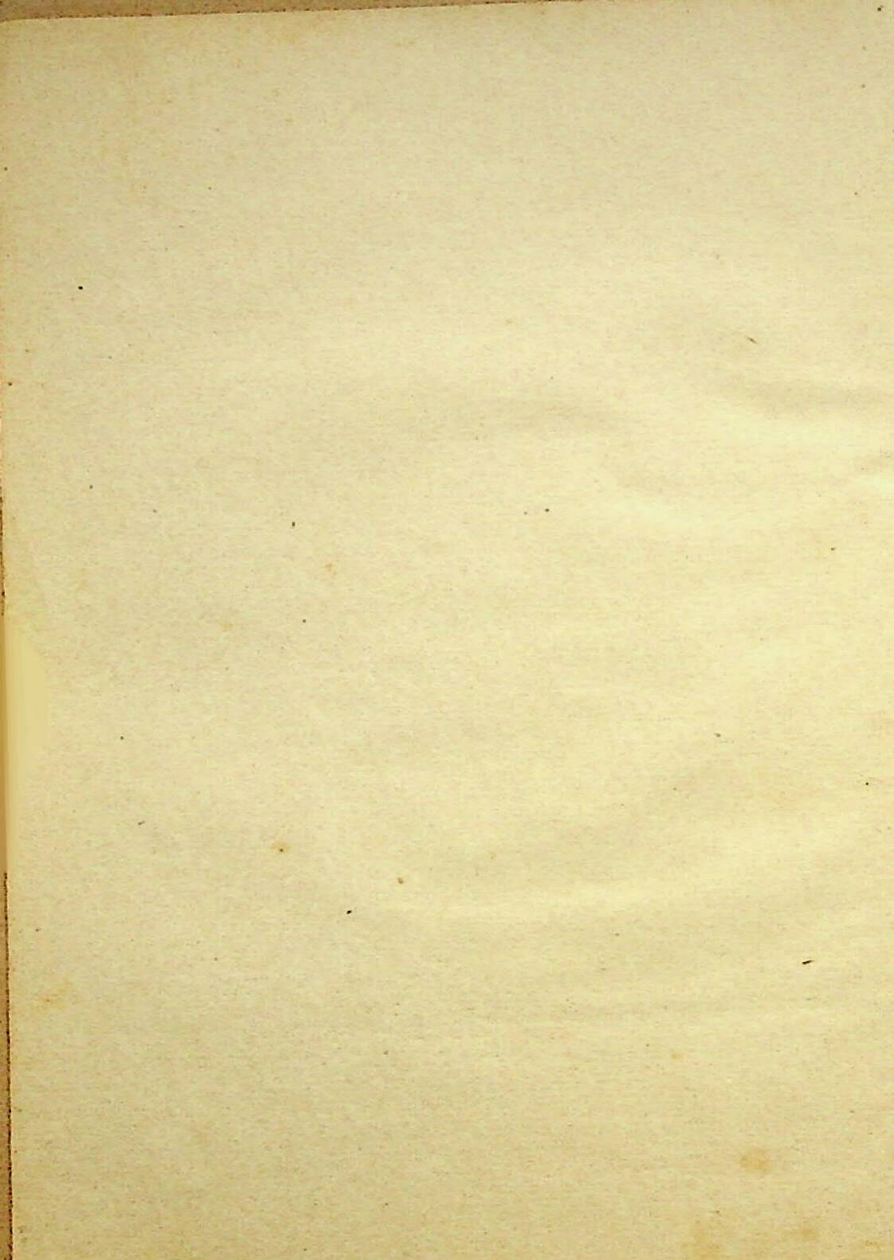


संस्कर्ता-

जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

एम० ए०, साहित्याचार्य





श्री-मधुसूदन-सरस्वती-विरचित

श्रीभगवद्भक्तिरसायन

स्वामी ॐकारानन्दः

ॐ

[सम्पूर्ण]

प्रथमोल्लासकी ग्रन्थकार रचित टीका, मूल एवं टीकाका

हिन्दी अनुवाद तथा विवृति सहित

अनुवादक एवं विवृतिकार

श्री जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

साहित्याचार्य, एम० ए०

प्रकाशक-

गिरिजेशकुमार पाण्डेय

२२।३६ पञ्चगङ्गा, वाराणसी

द्वितीय संस्करण २०३३

मूल्य-सजिल्द १० रु.

अजिल्द [illegible] संशोधित मूल्य ८)

मुद्रक—

'पर्वतीय मुद्रणालय'

पञ्चगङ्गा, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

आत्मनिवेदन

(प्रथम संस्करण)

विश्व साहित्यमें रसतत्त्व का विश्लेषण और रससाधनाका सम्यक् आलोचन संभवतः भारतीय साहित्यसे अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। रससाधनाका आलोचन एक प्रकारसे रसब्रह्मकी लीलाका ही आलोचन है क्योंकि 'रसो वै सः' यह श्रुतिवाक्य है। ब्रह्म रसरूप—आनन्द स्वरूप है, उसके इस आनन्दमय स्वभावसे ही सृष्टिको रचना हुई है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि सृष्टि की रचना का हेतु अभाव नहीं प्रत्युत स्वभाव है। भगवान् व्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें कहा है 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' यह सृष्टि ब्रह्मके लिये लीलामात्र है। अर्थात् यह सृष्टि ही आनन्दमय श्रीभगवान्‌की नित्य लीला है। भारतीय भक्तिसाधनाके अत्यन्त निगूढ़ प्रदेशमें इस भागवती लीलाका सधान प्राप्त होता है। जो भक्तिको केवल भाव रूपसे नहीं जान पाते वे रसरूपसे उसका आस्वादन करते हैं, जिनके चित्तमें इसकी क्षमता है वे ही इस भक्तिरसके आस्वादनके अधिकारी हैं। ऐसे ही अधिकारियोंमें परमहंस परिव्राजकाचार्य यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वती जी भी हैं। जिन्होंने तीव्र-संसार रोगसे चिर कालसे ग्रस्त मानवोंके लिये अमूल्य और परमोपकारी भगवद्-भक्तिरसायनका निर्माण किया है।

श्री मधुसूदन सरस्वतीजीने यद्यपि संन्यास ग्रहण कर लिया था किन्तु फिर भी वे भक्तिरसके परमाचार्य थे। उनके ये श्लोक इसके साक्षी हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

× × ×

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवृत्तिम्॥

भक्तिशास्त्र, प्रकृत ग्रन्थ एव ग्रन्थकारके विषयमें आगे प्रस्तावना में बहुत कुछ लिखा गया है, यहाँ तो कृपालु पाठकोंसे कुछ आत्मनिवेदन मात्र करना है।

इस ग्रन्थकी महत्ता सर्वमान्य है। प्रथमोल्लासमें स्वयं ग्रन्थकारने ही टीका रचकर ग्रन्थका सम्पूर्ण आशय खोलकर रख दिया है। साथ ही अन्य टीकाकारोंके लिये यह आदर्श भी उपस्थित कर दिया है कि ग्रन्थकारके हृदय तक पहुँचनेके लिये कितना अवगाहन करना पड़ता है। क्या ही उत्तम होता, अवशिष्ट दो उल्लासोंमें भी ग्रन्थकारकी टीका उपलब्ध हो पाती। संस्कृतज्ञ विद्वान् तो इस अनुपम निधिसे लाभ उठा पाते थे किन्तु सामान्य जनता आजतक इस लाभसे वंचित थी, इसीलिये मैंने इसका हिन्दी अनुवाद करनेका विचार किया। उद्‌भट विद्वान् श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी रचनाका अनुवाद मुझ जैसे अल्पज्ञके लिये यद्यपि दुस्साहस ही कहना चाहिये, फिर भी 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' इस महाकविकी उक्तिका स्मरण करता हुआ मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूं। इसमें मुझे कितनी सफलता मिली है, यह तो कृपालु पाठक ही समझें। मैंने यथाशक्ति मूल और टीकाका पृथक्-पृथक् शब्दानुवाद ही करनेकी चेष्टा की है और यत्रतत्र भाषागत संगति मिलानेके लिये जो प्रसङ्ग अपनी ओरसे लिखे हैं उन्हें [ ] कोष्ठके अन्तर्गत रखा है। ऐसा प्रयत्न किया है जो हिन्दी पढ़कर उसके मूलको भी जाननेका प्रयत्न करें वे उस बहाने संस्कृतका भी ज्ञान प्राप्त कर सकें, और जो केवल हिन्दी अनुवाद ही सिलसिलेसे पढ़ें उन्हें भी किसी प्रकार असंगति न मालूम पड़े। तीसरे उल्लासकी मैं विस्तृत विवेचना करना चाहता था, किन्तु अन्य कई ग्रन्थोंके सम्पादनमें व्यस्त रहनेसे इस समय शीघ्रतावश न कर सका। जिसे अगले संस्करणमें उपस्थित करूँगा।

इस अनुवादमें मैंने अच्युत-ग्रन्थमालासे प्रकाशित श्री स्व० गोस्वामी दामोदर शास्त्रीजीकी प्रेमप्रपा टीका तथा श्री दामोदरन्नम्पूतिरिप्पाद् महोदयकी किञ्चिद्व्याख्या एवं टिप्पणीसे पर्याप्त सहायता ली है एतदर्थ उक्त महानुभावोंके प्रति आभार प्रदर्शन आवश्यक है। वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालयके भू० पू० पुराणेतिहास विभागाध्यक्ष श्रद्धेय श्रीअनन्त शास्त्री फड़के जीने इस अनुवादको अक्षरशः सुना है, यत्र तत्र मुझे मार्गदर्शन देकर मेरी

शंकाओं का समाधान किया है, अपनी वह प्रति जिसे ४ हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर उन्होंने शुद्ध किया था मुझे इस संस्करणके आदर्श रूपमें दी है, साथ ही विशद और गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। पूज्य फड़केजीका इस विषयमें अध्ययन और अध्यापन गम्भीर है। वे इस विषयके आधिकारिक विद्वान् हैं। वे मेरे गुरुकल्प हैं। उनके प्रति शाब्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपनी धृष्टता समझता हूँ। मुझे उनसे इस प्रकारके आशीर्वाद प्राप्त करनेका अधिकार है।

अन्तमें विद्वान् एवं कृपालु पाठकोंसे सादर निवेदन है कि मानवस्वभावकी चपलता, दृष्टिदोष अथवा मुद्रण दोषसे जो त्रुटियाँ पुस्तकमें रह गई हों उनके लिये क्षमा करें।

जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

(द्वितीय संस्करण)

इस ग्रन्थके प्रथम संस्कारणका इतना समादर हुआ कि वह हाथों हाथ निकल गया और विगत ६ वर्षोंसे इसकी एक भी प्रति उपलब्ध न थी। इसके द्वितीय और तृतीय उल्लासका विस्तृत विवेचन एवं संस्कृतटीका अपनी अत्यन्त व्यस्तताके कारण इस संस्करण में भी मैं नहीं कर सका जिसके लिये पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। पूज्य फड़के जी की प्रस्तावना यथावत् देकर उनकी दिवंगत आत्माको श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

॥ श्रीः ॥

प्रास्ताविकम्

मनुष्यमात्र सुखकी इच्छा करता है और वह सुख भी दुःखसे सर्वदा असंबद्ध हो, यह बात सभी धर्म, सभी देश और सभी समाजोंमें एक रूपसे मानी हुई है, इसमें सन्देह नहीं।

उस दुःख रहित एवं अत्यधिक सुखकी प्राप्तिके साधनमात्र प्रत्येक धर्म, देश और समाजमें भिन्न-भिन्न हैं। इस भेदका कारण भी सुख प्राप्तिके साधनोंके विषयमें भिन्न-भिन्न विचार, परिस्थितियाँ, श्रद्धा तथा विभिन्न आचार हैं। किन्तु संसारमें जितने भी सुखके साधन विद्यमान हैं उन सबका अन्तर्भाव ज्ञान, कर्म और भक्तिरूप तीन साधनोंमें ही होता है। श्रीव्यासजी ने भागवतमें कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ ११।२०।६

भाव यह है—मनुष्योंको परम सुख प्राप्तिके साधन ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन ही हैं और कोई उपाय कहीं भी नहीं है। इसमें कर्मपदसे श्रौत, स्मार्त, तान्त्रिक कर्म विवक्षित हैं एवं आधुनिकी प्रवृत्तिसे परिपोषित साइन्सके चमत्कारोंको प्राप्त करानेवाले साधनोंका ग्रहण भी उचित प्रतीत होता है।

ज्ञानपदसे जगत्के आदि कारणभूत तत्त्व सगुण-निर्गुण या शून्य आदि दर्शन भेदोंसे विद्यमान सभी तत्त्वोंके बोधक लिये जाते हैं और भक्तिपदसे सभी प्रकारकी परमेश्वर-विषयिणी हृदयकी द्रुतवृत्ति ली जाती है।

वस्तुतः मनुष्यमात्रमें—या प्राणिमात्रमें भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं अपने-अपने प्रियविषयमें चित्तकी द्रुति तो होती ही है। जैसे अपनी संततिको देखकर वात्सल्यसे गाय आदि पशुओंके स्तनोंसे भी दूध चूने लगता है। बछड़ेकी मृत्यु देखकर उनकी आँखोंसे भी आँसू बहते हैं। भागते हुए मृग

आदिको देखकर सिंह आदिकी चित्तवृत्ति क्रोधसे भर जाती है। मादाको देखकर पुरुष पशुकी भी कामविषयिणी प्रवृत्ति जाग्रत होती है। यद्यपि रसशास्त्रकी दृष्टिसे इन द्रुत चित्तवृत्तियोंको रस नहीं कह सकते क्योंकि "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह रसकी परिभाषा है। किन्तु विषयको देखकर कामादिसे भी चित्त द्रुति रूपसे परिणत होता है यह तो निश्चित ही है। इसी प्रकार इन द्रुतियोंको भक्तिपदसे भी नहीं कह सकते। यह तो चित्तद्रुति होना प्राणिमात्रका स्वभाव ही है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने भी कामक्रोधादिको चित्तद्रुतिका साधन माना है——

काम-क्रोध-भय-स्नेह-हर्ष-शोक-दयादयः।

तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत् ॥(भक्तिरसायन १।५)

केवल चित्तकी द्रुति होना भक्ति नहीं है। भक्ति वस्तु है—अखण्डानन्द दायक, जगत्कारण, नित्य, त्रिकालमें भी अविनाशी, अविपरिणामशील ऐसे परमेश्वरमें चित्तका अखण्ड रूपसे सर्वदा लगा रहना। जैसे गंगाका प्रवाह दिन रात अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरता ही रहता है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने भक्तिरसायनमें एक जगह श्रीमद्भागवतके एक श्लोक द्वारा निर्गुण-भक्तिका स्वरूप दिखलाया है——

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ॥ (३।२९।११ १२)

भाव यह है :——जिस प्रकार गंगाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनकी वृत्तिका अविच्छिन्न रूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति (अर्थात परमेश्वरके प्रति) हो जाना ही निर्गुणभक्तिका लक्षण है। परमेश्वर प्राप्तिके लिए ज्ञान और कर्मकी अपेक्षा भक्तिरूप उपाय सभीके लिये करने योग्य और अति सुलभ है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिए साधन-चतुष्टय सम्पन्न एवं ब्राह्मण अधिकारी माना जाता है। परन्तु भक्तिके लिए तो मनुष्यमात्र अधिकारी है। प्रत्युत श्रीमद्भागवतकी दृष्टिसे तो प्राणिमात्र ही भक्तिके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए हैं।

सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना: खगा मृगा: ।
गन्धर्वाप्सरसो नागास्सिद्धचारणगुह्यका: ॥ ११ । १२ ।२-३ ॥

इस विषयमें भक्तिरसायनमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने ग्रन्थारम्भके कारणका विवरण करते हुए बड़े विस्तृत प्रकारसे लिखा है। भक्तिरूप उपायमें सर्वज्ञ, सर्वशक्ति दयाधन परमेश्वरका बीचमें सहारा रहनेसे भक्तके अनेक संकटोंमें परमेश्वर सहायक होकर भक्तको अपने साधनोंसे गिरने नहीं देते हैं। ऐसी ही भक्तिको कहीं-कहीं मार्जारीभक्ति कहा है । जैसे बिल्ली अपने बच्चेको एक जगहसे दूसरी जगह मुखमें पकड़कर ले जाती है, बच्चोंको कभी भी गिरने नहीं देती है, बच्चोंका केवल कर्तव्य इतना ही रहता है कि माँ पर श्रद्धा रखकर उसके प्रेम और दयाका पात्र बनना। भक्तिसूत्रकार श्रीमहर्षि शाण्डिल्यने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता तथा सरलता "प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धे:" (१, २३) इस सूत्रसे दिखलाई है। विषय यह है कि भगवद्गीतामें अर्जुनको अक्षरज्ञानका तथा भक्तिका बोध परमेश्वरने किया। अर्जुनके मनमें यह शंका उपस्थित हुई कि तुम्हारे भक्त और अक्षर निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंमें योगवित्तम अर्थात् श्रेष्ठ कौन है––

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा: ॥

परमेश्वरने इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया––

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता: ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता: ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा: ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ॥ (१२-१-७)

भाव यह है––मुझमें श्रद्धासे चित्त लगाकर जो उपासना––भक्ति करते हैं वे युक्ततम अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अक्षर, अचिन्त्य, कूटस्थ, नित्य ब्रह्मकी उपासना

करनेवाले भी मुझे प्राप्त होते हैं। परन्तु उनको अधिक क्लेश होता है क्योंकि अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्ति बड़े कष्टसे होती है। और जो मेरे भक्त हैं। मृत्यु और संसार सागरसे मैं उनका शीघ्र उद्धार करता हूं।

इस लम्बे प्रकरणसे अक्षर ज्ञान और भक्तिमें क्या अन्तर है यह स्पष्ट हो जाता है। ऐसे परमश्रेष्ठ सरल और सभीके लिये सहज भक्तिरूप साधन कर्मकी अपेक्षा अति सरल है। यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। एक तो यज्ञ-यागादि कर्म बहुद्रव्यसाध्य एवं कष्टोंसे कथंचित् हो सकते हैं। अतः कोई विरले धनी उनको कर सकते हैं। उसमें भी कर्म करना और उसके फलकी तनिक भी इच्छा न रखना यह तो अति कठिन है। अतएव लोकमें और शास्त्र में "कष्टं कर्म" ऐसी प्रसिद्धि है।

परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाली सर्व सुलभ साधन भक्ति भी पूर्व जन्मके पुण्य एवं संस्कारोंके विना नहीं होती है। श्रीभागवतके प्रथम, तृतीय तथा एकादश स्कन्धमें इसका विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है। मधुसूदन सरस्वतीजीने भी भक्ति रसायन प्रथम परिच्छेदमें विस्तृत निरूपण किया है। सार यह है कि पूर्व संस्कारोंके विना निर्लोभ, सच्चरित्र एवं विद्वान् सत्पुरुष, की प्राप्ति नहीं होती और उसकी प्राप्ति होनेपर उसकी सेवा संगतिसे श्री परमेश्वरके गुणानुवाद, माहात्म्य आदिमें दृढ़ श्रद्धा होती है तद्द्वारा परमेश्वरमें कुछ प्रेम पैदा होता है बादमें क्रमशः प्रेम बढ़ते-बढ़ते परमेश्वरमें परमनिष्ठा होती है। एवं परमेश्वरके गुणोंका अपनेमें अनुभव होता है। आखिरमें परमेश्वरमें आत्मनिवेदन होता है। यह होनेपर भी जीवन्मुक्त भक्त परमेश्वरकी सेवा करता ही रहता है क्योंकि जिन साधनोंसे वह परमेश्वरका अपनेमें और जगत्में सर्वदा सर्वस्थलमें अनुभव करता है उन साधनोंका आचरण करना उसका स्वभाव ही बन जाता है! श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥ (१।७।१०)

भाव यह है कि—सर्वदा परमेश्वर-प्रेमका मनन करनेवाले मुनिगण आत्मामें रमण करनेवाले होते हैं और उनके हृदयस्थ सन्देहग्रन्थियाँ मिट जाती हैं।

तो भी भगवान्‌में निष्काम भक्ति करते ही रहते हैं क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि परमेश्वरके गुणों द्वारा आकृष्ट चित्त परमेश्वरसे हटता ही नहीं।

भक्तिको द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत आदि दर्शनकारोंने स्वीकार किया है प्रत्युत सभी आस्तिक नास्तिक दर्शनकारोंमें ईसाई-मुसलिम-सिक्ख आदि भारतके बाहरके सभी भिन्न-भिन्न धर्म मानने वालोंने भी किसी न किसी प्रकारसे उसको माना ही है। चाहे वे मूर्तिका या मूर्ति-सेवाका खण्डन करें, परन्तु उनको भी उपासनाके लिये गिरजाघर मसजिद आदि विशिष्ट स्थानों-की आवश्यकता होती ही है। किसी वस्तु, स्थान, दिशा आदिके अवलम्बनके विना चित्तकी एकाग्रता होती ही नहीं। ठीक ही भारतीय तत्त्वद्रष्टा दर्शन-कारोंने लिखा है--'साधकस्य हि सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना।'

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने भक्तिरसायन ग्रन्थमें 'ब्रह्मविद्यासे परम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्तिके समान केवल भक्तिसे भी परमेश्वरके परम प्रेमकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थकी सिद्धि होती है' यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है। भक्तोंके मतसे श्रवण कीर्तनादि साधन भक्ति द्वारा परमेश्वरके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान एवं आनन्दरूप परमेश्वरका ज्ञान और आखिरमें परमेश्वर-सायुज्यकी प्राप्ति यह क्रम विवक्षित है। यही प्रायः गीतामें लिखा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्!
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १०, १० ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १३, १८ ॥

भाव यह है--सर्वदा एकाग्रचित्तासे प्रेम पूर्वक भजने वालोंको मैं ज्ञान देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं। मेरा भक्त इस परमेश्वर तत्त्वको जानता है और मुझे प्राप्त होता है। अस्तु।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीका चरित्र

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने अपने विषयमें बहुत कम—नहींके बराबर लिखा है अतः उनके समकाल या अनन्तर उत्पन्न हुए ग्रन्थकारोंने जो कुछ उनके विषयमें लिखा है और जो कुछ किंवदन्तियोंसे ज्ञात होता है उनके आधार पर इनका जीवन-चरित संक्षेप से लिखा जाता है।

ईसाकी बारहवीं शताब्दीमें (११९४ में) भारतकी एकता एवं स्वतंत्रताके विनाशका मार्ग प्रशस्त करनेवाले कन्नौजके राजा जयचन्द एवं कन्नौज नगरी तथा उनके राज्यका शहाबुद्दीन गोरी द्वारा विनाश हो गया। उस समय भारतीय ब्राह्मण पण्डितों के कुल एवं अन्य हिन्दू जाति कहीं हिन्दू-राज्यमें शरण पानेके निमित्त समूचे भारतमें भटकने लगी। बंगालके एवं मिथिलाके राजाओं ने उदारतासे उन लोगों को अपने राज्यमें आश्रय दिया। उनमें श्री मधुसूदन सरस्वतीजीके पूर्वज पं० श्रीराम मिश्रभी थे। वे बंगालके नवद्वीपमें आकर बसे। वे श्रौत आदि कर्मकाण्ड और शास्त्रके अच्छे विद्वान् तथा अग्निहोत्री थे। इनके कुलमें पुरोदन पुरंदराचार्य उत्पन्न हुए। वे भी अच्छे पण्डित एवं धार्मिक व्यक्ति थे। इनको ४ या ५ पुत्र थे ऐसी प्रसिद्धि है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार थे १—श्रीराम या श्रीनाथ चूड़ामणि, २—यादव, ३—कमलनयन या मधुसूदन गोस्वामी, ४—वागीश गोस्वामी। पण्डित पुरोदन भट्टाचार्य बंगालमें फरीदपुर जिलेके अन्तर्गत कोटाली या कोशली पाड़ा परगनाके उनसिया गाँवमें बसे। यह बात उनके कुलकी पञ्जिकासे ज्ञात होती है।

श्री पं० पुरोदन भट्टाचार्यके तृतीय पुत्र मधुसूदनने अपने पितासे ही काव्य साहित्य एवं व्याकरण शास्त्रका कुछ अध्ययन किया। बाल्यकाल ८-१० वर्षकी उम्रसे ही उनमें संस्कृत कविता करनेकी अद्भुत शक्ति प्रकट हुई। अधिक शास्त्रका अध्ययन तथा न्यायशास्त्रका सम्पूर्ण अध्ययन करनेके निमित्त नवद्वीपमें उस समयके प्रसिद्ध पण्डित श्री हरिराम तर्कवागीश महाशयके पास न्यायशास्त्रका अध्ययन शुरू किया। उस समय उनके सहपाठी दीधितिकारके प्रत्यक्ष-चिन्तामणिके टीकाकार गदाधर चक्रवर्ती थे। बाल्यकालसे ही ये विरक्त थे। वैराग्यका कारण किसीने इस प्रकार लिखा है।—चन्द्रद्वीप (बरसाल प्रांत) के राजा कन्दर्पनारायण सिंहके पास अपने पिता श्री पुरोदन पुरंदराचार्यके साथ अनेक नौकायें भरे आमोंको वार्षिक कर रूपमें देनेके निमित्त वे गये थे। पिताके साथ राजाका अनुचित व्यवहार देखकर श्री मधुसूदन अत्यन्त खिन्न एवं व्यावहारिक मार्गसे एकदम विरक्त हो गये और घर आकर माता और पिताकी आज्ञासे वेदान्त और मीमांसाके अध्ययनके निमित्त श्री विश्वनाथजीके प्रिय क्षेत्र वाराणसीमें आये। यहाँ उस समयके

प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् माधव सरस्वतीजीसे मीमांसाशास्त्रका एवं श्री राम-तीर्थजीसे अद्वैत वेदान्तका सम्पूर्ण अध्ययन किया अनन्तर व्यवहारसे एकदम विरक्त होकर संन्यास लेनेके निमित्त उस समयके प्रसिद्ध विरक्त और विद्वान् श्रीविश्वेश्वर सरस्वतीजीके पास गये। श्रीविश्वेश्वर सरस्वतीजीने उनसे कहा कि हम संन्यास देनेके पूर्व छात्रकी योग्यताकी परीक्षा करते हैं अतः तुम अद्वैत वेदान्तके प्रतिष्ठापक श्री शंकराचार्यके मतके अनुसार गीता पर कुछ लिखकर दिखाओ, तब दीक्षा होगी। कहते हैं कि श्री मधुसूदनजी ने थोड़े ही समयमें गीतापर गीतानिबन्ध नामक ग्रन्थ लिखकर उनको दिखाया। उस ग्रन्थका नाम कोई गूढ़ार्थदीपिका (भगवद्गीताकी टीका) कहते हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि गूढ़ार्थदीपिकामें महान् अद्वैत सिद्धि आदि स्वरचित ग्रन्थोंके नाम आते हैं अतः गीता निबन्ध नामक एक भिन्न ग्रन्थ ही है।

संन्यास लेनेके बाद वे श्रीमधुसूदन सरस्वती नामसे प्रसिद्ध हुए। और अपने गुरु श्रीविश्ववेश्वर सरस्वतीके साथ चौसट्टी घाटपर गोपालमठमें रहने लगे। श्रीमधुसूदन सरस्वती बचपन से ही बंगालमें उस समय प्रादुर्भूत श्री गौराङ्ग महाप्रभुके द्वारा प्रचलित श्री कृष्णभक्तिसे प्रभावित थे, और पुरी-क्षेत्रमें मूर्तिरूपसे स्थित श्री जगन्नाथजीके द्वारा अपनेको अनुगृहीत मानते थे उन्होंने वेदान्तकल्पलतिकामें एक जगह लिखा है—"भगवता नीलाचलना-यकेन नारायणेन अनुगृहीता" नीलाचल माने विरजा क्षेत्र अर्थात् इस समयका पुरी क्षेत्र। इस पंक्तिसे यह बात सिद्ध होती है। संन्यास लेने के अनन्तर वेदान्त मतको अति पुष्ट करनेवाले एवं अति जटिल तथा विस्तृत अद्वैत सिद्धि ऐसे ग्रन्थ लिखनेपर भी उनकी श्रीकृष्ण भक्ति कम न होकर बढ़ती ही गई। यह बात "कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने" "दासीकृता गोपवधूविटेन" "कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति" इत्यादि अनेक ग्रन्थोंमें लिखे इस प्रकारके लेखोंसे सिद्ध होती है। इन्होंने भक्तिशास्त्रमें भक्तिरसायन ग्रन्थ लिखकर श्रीकृष्ण विषयक प्रेममें डूबे हुए अपने चित्तका परिचय दिया है।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीका स्थितिकाल निश्चित करना बड़ा जटिल काम है। परन्तु विद्वानोंने जो कुछ प्रयत्न किया है उसके आधारपर ईसाकी

सोलह शतीका उत्तरार्ध एवं सत्रह शतीका पूर्वार्ध उनका स्थितिकाल मानना उचित मालूम होता है । इसके कई कारण हैं—

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी श्री गोस्वामी तुलसीदासजीके मित्रोंमें थे । श्री गोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानसपर पण्डित लोग आलोचना तथा कटाक्ष करते थे । तब खिन्न होकर श्री तुलसीदासजीने एक दोहा बनाकर श्री मधुसूदन सरस्वतीजीके पास भेजा—

हरहरि यश सुरनर गिरा वरणहिं सन्त सुजान ।
हाँडी हाटक चारु रुचि रांधे स्वाद समान ।।

इसके उत्तरमें श्री मधुसूदन सरस्वतीजीने उनकी प्रशंसापर यह श्लोक लिखकर उनके पास भेजा—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः ।
कवितामजरी यस्य रामभ्रमरचुम्बिता ।।

भाव यह है—काशीमें चलता-घूमता तुलसी नामक एक वृक्ष है । उनकी कविता रूपी मंजरीका श्री रामरूप भ्रमरने आस्वादन किया है । साक्षात् भगवान् रामचन्द्र ही श्री तुलसीदासकी कविताओंका आस्वादन करते हैं अतः खेदका विषय नहीं है । इस किंवदन्तीके आधारपर श्री गोस्वामी तुलसीदासजी के समकालमें श्री मधुसूदन सरस्वतीका समय आता है । श्री तुलसीदासजी द्वारा लिखाई गई वाल्मीकि रामायण पुस्तक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालयमें विद्यमान है । उसमें लेखन काल १६४१ विक्रमाब्द लिखा है । अर्थात् सन् १५८४ में श्री मधुसूदनजीकी स्थिति मानी जानी चाहिये और एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि—नवद्वीपमें जब वृद्धावस्थामें श्री मधुसूदन सरस्वती फिरसे गये तब गदाधर भट्टाचार्य और तर्कवागीश डर गये—

नवद्वीपे समायाते मधुसूदनवाक्पतौ ।
चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद्गदाधरः ।।

श्रीगदाधर भट्टाचार्यका समय १७ वीं सदीका पूर्वार्ध है तो श्री मधुसुदन की स्थितिका पूर्वोक्त ही समय आता है ।

कायस्थ-कुलप्रसूत टोडरमलके वर्णका निर्णय करनेके लिए टोडरमलके सूचनानुसार शाह अकबरसे बुलाई हुई सभामें काशीकी पण्डितमण्डलीकी ओरसे श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी गये थे। शाह अकबरके दरबारमें श्री मधुसूदन सरस्वतीजीकी इतनी प्रतिष्ठा हुई कि वहाँ आमन्त्रित सभी पण्डितोंने श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीके बारेमें यह अभिनन्दन श्लोक पढ़ा—

वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती।
मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्तिसरस्वती।।

अकबरका शासन काल सन् १५५६ से १६०५ तक इतिहास प्रसिद्ध है। इस किंवदन्तीके आधार पर श्री मधुसूदन सरस्वतीजीका स्थिति समय ईसाकी सोलहवीं शतीका उत्तरार्ध ही प्राप्त होता हैं।

और एक किवदन्ती प्रसिद्ध है कि वृत्त रत्नाकरकी टीका श्री प्रसिद्ध-नारायण भट्टने की। उनके समयमें श्री मधुसूदन सरस्वतीजी विद्यमान थे क्योंकि श्रीनारायण भट्ट-भट्टके कथनसे ही उन्होंने श्रीमाधव सरस्वतीजीसे मीमांसाका अध्ययन किया। श्रीनारायण भट्ट-भट्टका समय सन् १५४५ में बताया है। इससे भी सोलह शतीका उत्तरार्ध और सत्रह शतीका पूर्वार्ध समय निकलता है।

माध्व संप्रदायके श्री व्यास तीर्थके न्यायामृत ग्रन्थका श्री मधुसूदन सरस्वतीजीने अद्वैतसिद्धिमें अक्षरशः खण्डन किया है। श्री व्यास तीर्थका समय ईसाकी सोलह शती माना जाता है। इससे भी यहीं निश्चय होता है कि श्री मधुसूदन सरस्वती सोलह शतीके उत्तरार्धमें स्थित थे। इस प्रकार श्री हर्षके खण्डनखण्ड खाद्यका खण्डन श्री शंकर मिश्रने भेदरत्नमें किया है। शंकर मिश्रका समय १५ वीं शताब्दी है। इसका खण्डन श्री मधुसूदन सरस्वतीने अद्वैत रक्षण ग्रन्थमें किया है। इससे भी उपर्युक्त मतकी पुष्टि होती है। प्रसिद्ध मीमांसक वेदान्ती और १०८ ग्रन्थोंके रचयिता श्री अप्पय दीक्षित सन् १६६० में अति वृद्ध होकर शिव सायुज्यको प्राप्त हुए। श्री मधुसूदन सरस्वती श्रीमद् अप्पय दीक्षितका अद्वैत सिद्धि ग्रन्थमें परिमलकार रूपमें उल्लेख करते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षितके

अनन्तर श्री मधुसूदन सरस्वतीका स्थितिकाल अर्थात् षोडश शताब्दीका उत्तरार्ध एवं सप्तदश शताब्दीका पूर्वार्ध।

ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् श्री मधुसूदन सरस्वतीजी से पढ़कर, बहुतसे उद्भट् विद्वान् हो गये। जिनमें तीन प्रसिद्ध हैं :—१—श्री बलभद्रभट्टाचार्य इनका उल्लेख सिद्धान्त विन्दुके अन्तमें "बलभद्रस्य कृते कृतो निबन्धः" द्वारा ग्रन्थकारने किया है। २—शेष गोविन्द—इनका दूसरा नाम शेष कृष्ण पण्डित था और वे ही प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षितके गुरु थे। इन्होंने श्री शंकराचार्यके "सर्वसिद्धान्त संग्रह" ग्रन्थकी टीका लिखी है। ३—श्री पुरुषोत्तम सरस्वती-इन्होंने सिद्धान्त बिन्दुपर टीका लिखी है।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीकी रचनायें

१—अद्वैतसिद्धि, २—अद्वैतरत्नरक्षणम्, ३—आत्मबोध टीका, ४—आनन्दमन्दाकिनी, ५—ऋग्वेद जटाद्यष्टविकृतिविवरणम्, ६—कृष्णकुतूहल नाटकम्, ७—प्रस्थानभेदः, ८—भक्तिभाष्यनिरूपणम् ९—भगवद्गीता टीका गूढ़ार्थदीपिका, १० भगवद्भक्तिरसायनम्, ११—भागवत व्याख्या, १२—राज्ञां प्रतिबोधः, १३—वेदस्तुति टीका, १४—वेदान्तकल्पलतिका, १५—शांडिल्य सूत्र टीका, १६—शास्त्रसिद्धान्तलेश टीका, १७—संक्षेप शारीरक टीका, १८—सर्वविद्या सिद्धान्त वर्णन, १९—सिद्धान्त बिन्दु, २०—हरिलीलाव्याख्या, २१—महिम्नस्तोत्र व्याख्या, २२—रास पंचाध्यायी टीका।

ऐसे प्रौढ़ विद्वान् और महामहिम यतिवर श्री मधुसूदन सरस्वतीजीने १०७ वर्षकी आयुमें विदेह कैवल्य प्राप्त किया।

भक्तिशास्त्र रूप मन्दिरकी नींव सुदृढ़ करने वाले भक्ति रसायन ग्रन्थका निर्माणकर श्री मधुसूदन सरस्वतीजी ने एक महत्तम कार्य किया है। जिसका भक्तिशास्त्रके इतिहासमें बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसे उच्चकोटिके ग्रन्थका सुन्दर, सरल और यथार्थ अनुवाद सर्वसाधारण की भाषामें अत्यन्त आवश्यक था। उसकी पूर्ति साहित्याचार्य श्री जनार्दनशास्त्री पाण्डेयजीने बड़ी कुशलतासे की है। अनुवादके कार्यमें आप सिद्धहस्त हैं। आपका

अनुवाद सरल और ग्रन्थका हृदय समझनेमें अत्युपकारक होता है। आपने अनेक ग्रन्थोंका अनुवाद तथा कुछ ग्रन्थोंकी संस्कृत एवं हिन्दीमें टीकायें भी की हैं। मुझे विश्वास है कि जनता प्रकृत ग्रन्थको अपनाकर श्री पाण्डेयजीके परिश्रम को सफल करेगी।

श्री अनन्तशास्त्री फड़के
व्याकरणाचार्य, मी० तीर्थ, वेदान्तकेशरी
भू०पू० अध्यक्ष–पुराणेतिहास विभाग
वा० सं० वि० वि० वाराणसी

मकर संक्रान्ति
२०१८

———

विषयानुक्रमणी

*

श्रीभगवद्भक्तिरसायने

प्रथमोल्लासः ।

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति ।
निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि ॥१॥

विवृतिः

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

सर्वत्र सत्तारूपमें विद्यमान मुकुन्द(परमेश्वर)–विषयक भक्तियोगको नौरसोंसे मिलाहुआ अथवा केवल (स्वतंत्र रस रूपसे) परम पुरुषार्थ कहते हैं । अनुपम सुखकी प्राप्तिरूप और दुःख जिसे छूतक नहीं जाता ऐसे, उस (भक्तियोग)की मैं सबको सन्तुष्ट करनेके लिये शास्त्रीय दृष्टिसे विवेचना करता हूँ ॥ १ ॥

[साहित्य शास्त्रमें शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त, ये नौ रस मानेगये हैं । भक्तिको देवादिविषयक रति मानकर इसकी गणना भावोंमें की गई है । आचार्योंका कथन है कि भक्ति या वात्सल्य पृथक् रस नहीं हो सकते । क्योंकि इनके आधारभूत स्थायीभाव मौलिक नहीं हैं, प्रत्युत स्नेहके ही रूपान्तर मात्र हैं । वड़ेका छोटेके प्रति स्नेह—वात्सल्य और छोटेका वड़ेके प्रति स्नेह—भक्ति या श्रद्धा कहलाता है । इसप्रकार यह देवता-विषयक रतिभाव ही है, रस नहीं । प्रस्तुतग्रन्थकारका अभिप्राय है कि यदि इस सिद्धान्तके अनुसार इसे स्वतंत्र रस न मानकर भाव माना जाय तवतो यह ९ रसोंसे ही मिला हुआ है क्योंकि "न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः । परस्परकृता सिद्धिरनयो रस-

भावयोः ।।" इस नियमसे रस बिना भावके और भाव बिना रसके नहीं रह सकता । भक्ति भाव है अतः वह रसोंसे मिला रहेगा ।

कुछ आचार्य इसे स्वतंत्ररूपसे रस मानते हैं । जैसाकि श्री रूपगोस्वामीने अपने "भक्तिरसामृतसिन्धु" और "उज्ज्वलनीलमणि" में विस्तारसे वर्णन किया है । ये ग्रन्थ देवताविषयक रतिको तो भाव मानते हैं किन्तु कृष्ण-विषयक भक्तिको रस कहते हैं । क्योंकि कृष्ण देवता नहीं साक्षाद् ब्रह्म हैं । इस प्रकार आचार्योंका परस्पर भेद होनेपर प्रस्तुत ग्रन्थरचनाकी प्रतिज्ञा करते हुए कहा है कि भगवद्विषयक भक्तियोग नौरसोंसे मिलित है अथवा स्वतंत्र-रूपसे पृथक् परम पुरुषार्थ है इसकी मैं शास्त्रोक्त प्रमाणों द्वारा व्याख्या करूंगा, क्योंकि वह अनुपम सुख प्राप्ति और अत्यन्तदुःखनिवृत्तिरूप है ।।१।।]

(ग्रन्थकर्त्रैव विरचिता टीका)

पदनखनिविष्टमूर्तिभिरेकादशतामिवावहन्निष्टाम् ।
य समुपास्ते गिरिशस्तं वन्दे नन्दमन्दिरे कञ्चित् ।।

ग्रन्थारम्भे सम्भावितविघ्ननिवारणबुद्धया भगवदनुध्यानरूपं मङ्गलमङ्गीकुर्वन्नादौ प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्त्यङ्गतयाऽभिधेयप्रयोजनसम्बन्धानाचष्टे शिष्टाग्रणीर्ग्रन्थकारो नवरसेति० ।।

नन्दके भवनमें विद्यमान किसी अनिर्वाच्य उस स्वरूपको मैं प्रणाम करता हूं, जिसके चरणनखोंमें प्रतिविम्बित अपनी मूर्तियोंसे प्रिय एकादशरूपताको धारण करते हुएसे भगवान् शंकर जिसकी अच्छी प्रकार उपासना करते हैं ।।

[शिव रुद्र कहलाते हैं । रुद्र ११ होते हैं । जब शिवजी भगवान् कृष्ण-को प्रणाम करते हैं तो कृष्णके दोनों चरणोंके निर्मल दस नखोंमें उनका प्रति-विम्ब पड़ता है और चरणोंमें शिवकी दस मूर्तियाँ दीख पड़ती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इन दस मूर्तियोंके साथ ग्यारहवें स्वयं होकर वे पूर्ण रुद्र-रूपसे कृष्णकी आराधना कर रहे हैं । "कंचित्" से स्पष्ट है कि कृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं उनका कोई स्वरूप निर्धारण नहीं होसकता]

ग्रन्थके आरम्भमें आगे आनेवाले विघ्नोंका निवारण करनेके विचारसे भगवत्स्मरणरूप मङ्गलाचरण करते हुए शिष्टोंमें अग्रगण्य ग्रन्थकार विचार-वान् पुरुषोंकी ग्रन्थमें प्रवृत्तिके कारणभूत विषय, प्रयोजन और सम्बन्धको बताते हैं —नवरस० इसश्लोकसे ।

कर्मयोगोऽष्टाङ्गयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोग इति चत्वारः पुमर्थत्वेन प्रसिद्धा योगाः ।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्[1] ॥६॥

इति भगवद्वचनेनाऽष्टाङ्गयोगोऽपि ज्ञानयोगान्तर्गतो द्रष्टव्यः ।

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः[2] ॥११॥

इत्यादिना तस्यापि व्युत्पादनात् । तत्र—

"गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलो-

कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग ये चार, पुरुषार्थ होनेसे प्रसिद्ध योग (भगवत्प्राप्तिके उपाय) हैं।

[शंका—योग तो तीन ही प्रसिद्ध हैं जैसाकि भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें स्वयं कहा है—]

मनुष्योंके कल्याणकी कामनासे मैंने तीन योग बताये हैं— ज्ञान, कर्म और भक्ति । इनके अतिरिक्त कहीं भी कोई दूसरा उपाय भगवत्प्राप्ति या आत्म कल्याणका नहीं है ॥ ६ ॥

[फिर यहाँ चार योग कैसे गिनाये गये ? समाधान—]

भगवान्के कथनमें उपर्युक्त अष्टाङ्गयोगको भी ज्ञानयोगके ही अन्तर्गत समझना चाहिये । क्योंकि—

श्वासको जीताहुआ (प्राणायाम साधनाका अभ्यस्त) आसनको जीता हुआ (सिद्धासन आदिमें सुखपूर्वक बैठसकनेवाला) साधक आलस्य या प्रमाद रहित होकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा निश्चल किये हुए मनको एक ओर लगावे ॥ ११ ॥

इत्यादि वाक्यों द्वारा उसका भी प्रतिपादन किया गया है । उसमें भी—

"गर्भाधान (स्त्रीमें पुत्रोत्पत्तिके हेतु किया जानेवाला निषेक संस्कार), पुंसवन (गर्भस्थितिके बाद दूसरे या तीसरे मासमें किया जानेवाला संस्कार), सीमन्तोन्नयन (गर्भस्थितिसे छठे या आठवें मासमें होनेवाला संस्कार जो केवल प्रथमगर्भमें ही किया जाता है), जातकर्म (पुत्रोत्पत्तिकालका संस्कार)

---

१. भा. ११।२०।६, २. भा. ११।९।११

पनयनानि, चत्वारि वेदव्रतानि, स्नानं, सहधर्मचारिणीसंयोगः, पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानमष्टकापार्वणश्राद्धश्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजी चेति सप्तपाकयज्ञसंस्थाः, अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धस्सौत्रामणी चेति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यष्षोडशी वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्याम इति सप्त सोमयज्ञसंस्थाश्च"—इत्यादिशास्त्रविहितो वर्णाश्रमधर्मरूपः कर्मयोगोऽन्तःकरणशुद्धिसाधनत्वेन तावत्पर्यन्तमनुष्ठेयः,

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते[1] ॥ ६ ॥

इति भगवद्वचनात् ।

नामकरण (पुत्रोत्पत्तिसे ग्यारहवें दिनका संस्कार), अन्नप्राशन (छठे महीने का सं०) चौल (प्रथम वर्ष या तृतीयवर्षमें किया जानेवाला सं०), उपनयन (अष्टम एकादश और द्वादश वर्षमें होनेवाला क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का सं०) चार वेदोंके व्रत (महानाम्नी, महाव्रत, उपनिषद् व्रत, गोदान व्रत), स्नान (समावर्तन संस्कार), सहधर्मचारिणीसंयोग (विवाह), पांचयज्ञों (देवयज्ञ—होमादि, भूतयज्ञ—बलि आदि, पितृयज्ञ-तर्पण श्राद्धादि, ब्रह्मयज्ञ—अध्यापनादि, मनुष्ययज्ञ—अतिथिसत्कार आदि)का अनुष्ठान. अष्टका=पार्वण; श्राद्ध (एकोद्दिष्टादि); श्रावणी; आग्रहायणी; चैत्री; आश्वयुजी ये सात पाकयज्ञसंस्थान, अग्न्याधान; अग्निहोत्र; दर्श; पूर्णमास; आग्रयण; चातुर्मास्य; निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणी ये सात हविर्यज्ञसंस्थान, अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम-उक्थ्य-षोडशी-वाजपेय-अतिरात्र-आप्तोर्याम ये सात सोमयज्ञ संस्थाएँ हैं" इत्यादि शास्त्रोंमें कहा हुआ वर्णाश्रमधर्मरूप जो कर्मयोग है वह अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन होनेसे तभी तक करना चाहिये जबतक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाय ।

कर्म तभीतक करने चाहिये जबतक निर्वेद (संसारसे विरक्ति) न हो जाय अथवा जबतक मेरी (भगवान्की) कथा श्रवण आदिमें श्रद्धा न उत्पन्न हो जाय ॥६॥

---

१. भा. ११।२०।९

अन्तःकरणशुद्धिसाधनत्वञ्च "तस्य धर्मेण पापमपनुदति तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति" "येन केन यज्ञेनापि वा दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवति" इत्यादिश्रुतिसिद्धम् ॥

ततश्चाद्रुतचित्तस्य निर्वेदपूर्वकं तत्त्वज्ञानं, द्रुतचित्तस्य तु भगवत्कथाश्रवणादिभागवतधर्मश्रद्धापूर्विका भक्तिरित्यवधित्वेन द्वयमप्युपात्तम् । ततोऽन्तःकरणशुद्ध्याऽष्टाङ्गयोगमनुष्ठाय तैलधारावदविच्छिन्नभगवदेकाकारप्रत्ययपरम्परात्मकैकाग्रतायोग्यं मनस्सम्पादयेत् ।

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तस्संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥१८॥

इस भगवद्वचनसे [और "निर्विण्ण चित्त होकर ब्राह्मण और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी उपासना करे" इस श्रुतिवाक्यसे भी] सिद्ध हैं ॥

कर्मयोगका अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन होना तो "धर्म करनेसे पाप दूर होता है इसलिये कर्मको ही श्रेष्ठ कहते हैं" "जिस किसी भी यज्ञसे अथवा दर्वीहोमसे मनुष्यका चित्त शान्त ही होता है" इत्यादि वेद-वाक्योंसे सिद्ध है ।

इसलिए जिसको चित्तद्रुति नहीं होती उसे कर्मयोगसे निर्वेद होकर तत्त्वज्ञान हो जाता है और जिसको चित्तद्रुति होजाती है उसको भगवान्के कथा श्रवण आदि भगवद्धर्ममें श्रद्धा होकर भक्ति होती है । यही दो (निर्वेद और भक्ति) कर्मयोगकी अवधिरूपसे माने गये हैं ।

[जब चित्तद्रुति ही नहीं हुई तो भक्ति भी नहीं होगी, तब भक्तिके विना निर्विण्ण होने पर भी तत्त्वज्ञान कैसे होगा ? यह शंका यहाँ नहीं करनी चाहिये क्योंकि चित्तद्रुति न होने से भक्तिसुख उसे भले ही न मिले किन्तु सांसारिक विषयोंसे निवृत्त होनेके कारण साधन भक्तिमें तो वह लगा है ही इसलिये उसे तत्त्वज्ञान हो जायगा]

इसलिये अन्तः करण की शुद्धिद्वारा कर्मोंसे निर्विण्ण हुआ व्यक्ति अष्टाङ्गयोग (यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-रूप)का अनुष्ठान करके तेलकी धारकी तरह निरन्तर भगवान्में एकाकार हुई जो प्रत्यय-परम्परा, तदात्मक एकाग्रताके योग्य मनको बनावे । जैसा कि भगवान्ने कहा है—

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशन्नयेत्[1] ॥ १९ ॥

इत्यादिभगवद्वचनात् ।

तस्मिंश्च सति "अमानित्वमदम्भित्वम्" इत्यारभ्य "एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्" इत्यन्तेन ग्रन्थेन श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदुपदिष्टो ज्ञानयोगः प्रतिष्ठितो भवति देहेन्द्रियाद्यनासङ्गात्मकः ।

जब कर्मोंसे निर्विण्ण हो जाय तब संसारसे विरक्त होकर इन्द्रियोंका संयम करके अभ्यासके द्वारा योगी पुरुष धीरे-धीरे अपने मनको निश्चल करे ॥१८॥

जब धारण (निश्चल) किया जाता हुआ मन अव्यवस्थित होकर इधर-उधर भटकने लगे तो शीघ्र ही आलस्य रहित होकर अनुरोध (मनकी वे इच्छाएँ पूर्ण करके जिनकी ओर वह दौड़ रहा है) के द्वारा उसे अपने वशमें लावे ॥ १९ ॥

मनके वशमें होनेपर ही—"अमानित्वमदम्भित्वं" से लेकर "एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तं" यहाँतक भगवद्गीतामें उपदिष्ट देह इन्द्रिय आदिमें आसक्ति न होना रूप ज्ञानयोगकी प्रतिष्ठा होती है ॥

---

१. भा. ११।२०।१८-१९, २. गीतोक्त ज्ञानयोग—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाशान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ १३। ७ ॥

श्रेष्ठताके अभिमानका न होना, पाखण्डके आचरणका अभाव, प्राणिमात्रको न सताना, क्षमाकी भावना, (मन एवं वाणीकी) सरलता, श्रद्धा और भक्ति सहित गुरुकी सेवा, अन्तरिन्द्रियोंकी शुद्धि (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि, उस शुद्ध द्रव्यका आहार करनेसे आहार की शुद्धि, उचित व्यवहार द्वारा आचरणकी शुद्धि, जल मृत्तिका आदिसे शरीरकी शुद्धि, छल आदि विकारोंको नष्ट करके अन्तःकरण का शुद्ध हो जाना अन्तरिन्द्रियोंकी शुद्धि है) अन्तःकरणका स्थिर हो जाना, मन और इन्द्रियों सहित शरीरका निग्रह—॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अस्य च ज्ञानयोगस्य भक्तियोगोऽवधिः ।

साङ्ख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति ॥ २२ ॥

और इस ज्ञानयोगकी अवधि भक्तियोग है ।

"जबतक मन प्रसन्न (निश्चल) रहे तबतक सांख्य (तत्त्वोंका विवेचन) द्वारा सम्पूर्ण भावों (विद्यमान पदार्थों) की उत्पत्ति और लयका अनुलोम और प्रतिलोम क्रमसे चिन्तन करे, [प्रकृतिसे महत् (बुद्धि), उससे अहंकार, अहंकारसे १६ पदार्थ (१० इन्द्रियाँ + १ मन + ५ तन्मात्राएँ = १६। इन सोलहमें भी पाँच तन्मात्राओंसे पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं । यह उत्पत्ति

इहलोक और परलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्ति न होना, अहंकारका न होना, मृत्यु, जरा और व्याधि जन्य दुःखोंमें बारबार दोष देखना—॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, घर आदिमें आसक्ति न होना, ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा चित्तका समान रूपसे रहना—॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

और मुझ परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणीभक्ति [केवल एक सर्वशक्तिमान् पमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानका त्यागकर श्रद्धा और भावसहित परम प्रेमसे उस भगवान्का निरन्तर चिन्तन करना अव्यभिचारिणी भक्ति कहलाती है,] एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त मानवोंके समुदायसे प्रेमका न होना—॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

जिस ज्ञानके द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तुका ज्ञान हो उस अध्यात्मज्ञानमें नित्यस्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थ रूप परमात्माको सर्वत्र देखना यह सब ज्ञान हैं और जो इसके विपरीत है वह अज्ञान है ॥ ११ ॥

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः ।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥ २३ ॥
यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया ।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः[१] ॥ २४ ॥

इत्यादिभगवद्वचनात् ।

अत्र "मनो यावत् प्रसीदति" इति भक्तियोग एव ज्ञानयोगावधित्वेनोक्तः, भक्तियोगं विना मनसस्सम्यक्प्रसादाभावात् । मनस्त्यजति दौरात्म्यमित्यत्रापि स एव योगः । ममार्चोपासनाभिर्वेति । मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणीति ज्ञानयोगान्तर्गतया साधनभक्त्येत्यर्थः । ततश्च—

का क्रम है । और लय होते समय सबसे अन्तिम भूमिका जलमें जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका तन्मात्राओंमें इस प्रकार अन्तमें सबका प्रकृतिमें लय होता है, यही प्रतिलोम और अनुलोम भाव है ।] ॥२२॥

इस प्रकार कर्मोंसे निर्विण्ण, संसारसे विरक्त, उक्त प्रकारके ज्ञानयोगको जाननेवाले पुरुषका मन तत्त्वोंका अनुचिन्तन करनेसे दौरात्म्यको छोड़ देता है अर्थात् विषयमें आसक्त नहीं होता ॥ २३ ॥

यमनियमादि (अष्टाङ्ग) योगमार्गसे, आन्वीक्षिकी (कर्ममार्ग)से, विद्या (ज्ञानमार्ग)से और मेरी पूजा उपासना आदि (भक्ति मार्ग)से योग्य हुआ मन मेरा स्मरण करता है । अन्य उपायोंसे नहीं ।" ॥२४॥ इत्यादि भगवान्के वाक्योंसे यह सिद्ध है । उपर्युक्त भगवद्वचनमें "मनो यावत् प्रसीदति (मन जबतक निश्चल होता है)" इस वाक्यसे यह सिद्ध किया है कि ज्ञानयोगकी अवधि भक्तियोग है अर्थात् ज्ञानकी उपयोगिता तभी तक है जबतक भक्ति न हो जाय, क्योंकि भक्तियोगके बिना मन अच्छी प्रकार प्रसन्न नहीं होता । "मन दौरात्म्यको छोड़ देता है अर्थात् विषयोंमें आसक्त नहीं होता" इससे भी भक्तियोगका ही प्रतिपादन किया गया है । "मेरी पूजा या उपासनाओंसे योग्य हुआ मन मेरा स्मरण करता है" और "मुझ परमेश्वरमें एकीभावसे स्थिति रूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचरिणीभक्ति"

---

१. भा. ११।२०।२२-२४

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुने ! ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते[1] ॥ २८ ॥

इत्यादिभगवद्वचनानुसारिण्या साधनभक्तिनिष्ठया निखिलमपि विषयनिष्ठं प्रेमाणं भगवत्येव प्रतिष्ठापयतस्सकलविषयविमुखमनसो महाभागस्य कस्यचिद्भगवद्गुणगरिमग्रन्थनरूपग्रन्थश्रवणजनितद्रुतिरूपायां मनोवृतौ सर्वसाधनफलभूतायां गृहीतभगवदाकारायां विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेन रसरूपतयाऽभिव्यक्तो भगवदाकारतारूपो रत्याख्यस्थायिभावः परमानन्दसाक्षात्कारात्मकः प्रादुर्भवति । स एव

इन वाक्योंमें भी "ज्ञानयोगके अन्तर्गत होनेवाली साधन भक्तिसे" यह अर्थ है ।

इसके बाद (अर्थात् कर्मयोगसे मनको शुद्ध करके अष्टाङ्ग योग द्वारा उस शुद्ध मनकी तैलधारावत् अविच्छिन्न भगवदेकाकार-प्रत्यय-परम्परात्मक एकाग्रताके योग्य मनके हो जाने पर)—

हे मुने ! पूर्वोक्त भक्तियोगसे मेरा निरन्तर भजन करनेवाले भक्तके हृदयमें जब मैं स्थित हो जाता हूं तब उसके हृदयस्थ सारे विषय संस्कार नष्ट हो जाते हैं ॥२८॥

इत्यादि भगवद्वचनोंके अनुसार साधनभक्तिकी निष्ठासे विषयोंमें होनेवाले सम्पूर्ण प्रेमको भगवान्में ही प्रतिष्ठित करते हुए सम्पूर्ण विषयोंसे जिसका मन विमुख हो गया है ऐसे किसी विरले ही भाग्यशाली व्यक्तिकी भगवान्के गुणोंकी गरिमाका ग्रन्थन रूप जो भागवतादि ग्रन्थ, उनके श्रवणसे द्रुतिरूपताको प्राप्त हुई, सम्पूर्ण साधन जिसके फलीभूत हो गये हैं ऐसी, और भगवत्स्वरूपको जिसने ग्रहण कर लिया है ऐसी, मनोवृत्ति होनेपर उसमें [2]विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावके संयोग से रसरूप होकर अभिव्यक्त

---

१. भा. ११।२०।२९, २. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावके संयोगसे रत्याख्य स्थायी भाव रसरूपमें परिणत होता है संक्षेपमें इनके लक्षण और इनकी यहाँ संगति इस प्रकार है—

विभाव—"विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते रत्यादि-

भक्तियोग इति तं परमम्=निरतिशयं पुरुषार्थं वदन्ति रसज्ञाः।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायःश्रेयो भवेदिह ॥ ३१ ॥

हुआ भगवदाकारता रूप रतिनामक स्थायीभाव परमानन्दका साक्षात्कार रूपसे प्रकट होता है। ¹वही भक्तियोग है और उसीको रसज्ञ लोग परम अर्थात् निरतिशय (जिससे अधिक कुछ नहीं होता) पुरुषार्थ कहते हैं।

"इसलिये मेरी भक्तिसे युक्त और मुझमें ही आत्मसमर्पण कर देनेवाले योगीका प्रायः न ज्ञानसे कल्याण होता है और न वैराग्यसे, केवल भक्ति ही उसके लिये श्रेयस्कर है ॥ ३१ ॥

भावाः एभिरिति विभावः" (साहित्य-दर्पण) रत्यादि भावोंको जो विभावित करते हैं अर्थात् आस्वादनके योग्य बना देते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव उसे कहते हैं जिसको आश्रय मानकर रसकी निष्पत्ति होती है और उद्दीपन विभाव वे होते हैं जो उसे उद्दीप्त करते हैं। यहाँ भक्ति रसमें भगवान् आलम्बन विभाव है उसे ही आश्रय मानकर रसकी निष्पत्ति होती है। तुलसी चन्दनादि इसके उद्दीपन हैं। क्योंकि इन पदार्थोंसे भगवान्‌की अर्चना करनेसे भक्तिभाव उद्दीप्त होता है।

अनुभाव—अनुभावका अर्थ है पीछे होनेवाली चेष्टाएँ। आलम्बन और उद्दीपनके बाद जो भक्तकी चेष्टाएँ-नेत्रविकार आदि हैं वे भक्तिके अनुभाव हैं।

व्यभिचारिभाव—स्थिरतया विद्यमान रत्यादि स्थायीभावमें जो भाव आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं उन्हें व्यभिचारिभाव कहते हैं जैसे निर्वेद, श्रम, आलस्य आदि।

विभावादि सोदाहरण आगे तीसरे उल्लासमें विस्तृत रूपसे कहे गये हैं।

१. "वही भक्तियोग है" यह वाक्य जोर देकर कहा गया है, इसका तात्पर्य है क्लेशमय कर्मयोगादिसे भक्तियोग श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। अत्यन्त मधुर होनेसे मुक्तजन भी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते और इसकी कोई अवधि नहीं होती क्योंकि इससे बढ़कर कोई योग नहीं है ॥

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥ ३२ ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥ ३३ ॥
न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
गृह्णन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ३४ ॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥ ३५ ॥
न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्[1] ॥ ३६ ॥

इत्यादिवचनानि, तदनुभवितारश्च।

क्योंकि कर्मोंसे, तपस्यासे, ज्ञान और वैराग्यसे, योगसे, दानसे, धर्मसे अथवा अन्य श्रेयस्कर क्रियाओंसे उसे जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह सब मेरे भक्तियोगसे मेरा भक्त यों ही पा लेता है। स्वर्ग, मोक्ष और मेरे लोककी प्राप्ति आदि जो कुछ भी वह चाहता है उसे अनायास मिल जाता है ॥ ३२–३३ ॥

जो साधु, धीर और मेरे अत्यन्त भक्त होते हैं वे मेरे दिये हुये जन्म-मृत्युसे रहित मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते [क्योंकि उन्हें मेरी भक्तिमें ही आनन्द आता है। उसके आगे वे अन्य सब तुच्छ समझते हैं] ॥ ३४ ॥

किसी भी वस्तु या पदार्थमें निरपेक्ष होना ही महान् पुरुषार्थका साधन बताया गया है इसलिये निष्काम और निरपेक्ष व्यक्तिको ही मेरी भक्ति प्राप्त होती हैं ॥ ३५ ॥

मुझमें एकनिष्ठ, साधु, समदर्शी एवं बुद्धि तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानवान् भक्तोंको विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्मोंसे उत्पन्न पुण्य और पाप नहीं लगते ॥

इत्यादि वचन और उस भक्तियोगका अनुभव करनेवाले ही भक्तिरसकी श्रेष्ठतामें प्रमाणभूत हैं ॥

[प्रश्न—मोक्षको ही परमपुरुषार्थ कहा जाता है फिर भक्तियोगको परम कैसे मान लें ? समाधान—]

---

१. भा. ११।२०।३१-३६

दुःखासम्भिन्नसुखं हि परमः पुरुषार्थं इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पुरुषार्था इति प्रसिद्धिस्तु "लाङ्गलं मम जीवनम्" इतिवत् साधने फलत्ववचनादौपचारिकी। अतो न सुखमेव पुरुषार्थ इति पक्षहानिः।

सुखं दुःखाभावश्च द्वौ पुरुषार्थाविति तार्किकाः। तन्न, लाघवेन सुखमात्रस्यैव पुरुषार्थत्वकल्पनात्। इच्छाजनकत्वे हि ज्ञानस्य सुखविषयकत्वमेवावच्छेदकम्, न तु सुखदुःखाभावान्यतरविषयकत्वम्, गौरवात्। दुःखाभावस्य तु सुखपरिचायकत्वेनैवोपयोगः।

दुःखसे असम्भिन्न सुख ही परम पुरुषार्थ है सा सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है [तात्पर्य यह है कि मोक्ष भी तो दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिको ही शास्त्रोंने माना है। तब इससे भी उत्कृष्ट आनन्द जब भक्तिमें मिलता है और दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति भी है ही, तब उसे ही क्यों न परमपुरुषार्थ माना जाय।]

"धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं" ऐसी प्रसिद्धि तो इसी तरह है जैसे कोई कहे "हल ही मेरा जीवन है।" वास्तवमें हल तो जीवनका एक साधन होता है अधिक उपयोगी होनेके कारण उसमें गौणस्वरूप जीवनका आरोप कर लिया जाता है वैसे ही धर्म अर्थ काम मोक्ष भी भक्तियोगरूप परमपुरुषार्थके साधन हैं। औपचारिक रूपसे इनमें पुरुषार्थताका आरोप कर लिया जाता है। इसलिये सुखको पुरुषार्थ माननेमें हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं अर्थात् हमारे सिद्धान्तमें कोई दोष नहीं आता॥

[शङ्का—] तार्किकोंका मत है कि सुख और दुःखाभाव दो पुरुषार्थ मानने चाहिये। क्योंकि दुःखनिवृत्तिके लिये जो प्रयत्न किये जाते हैं उनसे दुःखाभाव तो हो जायगा किन्तु सुख भी प्राप्त हो ही जायगा, यह आवश्यक नहीं है। उसके लिये पृथक् प्रयत्न करने पड़ते हैं। अतः दोनों (दुःखका अभाव और सुखकी प्राप्ति) भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनके कारण भिन्न होते हैं अतः दोनोंको पुरुषार्थ मानना उचित है।

[समाधान—] यह ठीक नहीं, केवल सुखको ही पुरुषार्थ मानने में लाघव होता है क्योंकि जब हमें दुःखनिवृत्तिकी इच्छा होती है तो उसका यही तात्पर्य होता है कि हम सुख चाहते हैं। और सुखकी इच्छा होती है तो

यत्तु न्यायनिबन्धनकारैरशङ्कितम्—दुःखाभावस्य सुखार्थत्वेनैवोपयोगेऽभिहिते सुखस्यापि दुःखाभावार्थत्वेनोपयोगो वक्तुं शक्यते, विनिगमनाविरहात्। तस्मात्तदुभयं पुरुषार्थ इति। तदयुक्तम्, व्याप्यव्यापकभावस्यैव विनिगमकत्वात्। यदा सुखं तदा दुःखाभाव इति हि व्याप्तिस्सर्वसम्मता, निरुपाधिसहचारदर्शनात्। अतो दुःखाभावस्य सुखकालेऽवश्यम्भावित्वात् सुखपरिचायकत्वमुपपद्यते, तद्व्यापकत्वात्तस्य। यदा दुःखाभावस्तदा सुखमिति न तद्व्याप्तिः, सुषुप्तिप्रलयादौ व्यभिचारात्। अतो दुःखाभावस्य सुखाव्याप्यत्वान्न तत्परिचायकत्वं सुखस्य। व्यापकं हि व्याप्यस्थितिहेतुत्वेनान्यथासिद्धम्, सुखञ्च न दुःखाभावव्यापकमतस्तदेव स्वतन्त्रः पुरुषार्थः।

उसका अर्थ है कि हम दुःखोंसे छुटकारा चाहते हैं। दोनों प्रकारसे सुखविषयता ही अभीष्ट है। सुखको अलग और दुःखाभावको अलग माननेमें व्यर्थका गौरव होता है। क्योंकि दुःखाभावका तो केवल सुखका परिचायक होनेमें उपयोग होता है। [शंका—] जैसा कि न्यायनिबन्धकारोंने शंका की है —

जब दुःखाभाव सुखके लिये ही होता है ऐसा मानते हैं तो सुख भी दुःखाभाव के लिये ही होता है ऐसा भी कहा जा सकता है, क्योंकि दोनोंमें विनिगमना (दो पक्षोंमें एकका समर्थन करनेवाली युक्ति) नहीं है, इसलिये दोनों पुरुषार्थ हैं ?

[समाधान—] यह ठीक नहीं, क्योंकि व्याप्य-व्यापकभाव इन दोनोंमें विनिगमक है (अर्थात् व्याप्य-व्यापकभाव मानने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सुख ही पुरुषार्थ है।) क्योंकि "जब सुख होता है तब दुःखाभाव अवश्य रहता है" यह व्याप्ति सर्वसम्मत है।

इसलिये दुःखाभावके सुखकालमें भी अवश्य होनेसे सुखका परिचायक होना सिद्ध होता है, क्योंकि वह (दुःखाभाव) उसका (सुखका) व्यापक है। "जब दुःखाभाव रहता है तब सुख भी अवश्य रहता है" ऐसी व्याप्ति नहीं मान सकते क्योंकि सुषुप्ति, प्रलय आदिमें दुःखाभाव तो रहता है किन्तु सुखकी प्रतीति नहीं होती। अतः दुःखाभाव सुख का व्याप्य न होनेसे वह सुखका परिचायक भी नहीं हो सकता। व्यापक व्याप्यकी स्थितिका हेतु

दुःखाभावस्य सुखार्थत्वेनोपयोगे सर्वसुखशून्यस्य दुःखाभावस्य मोक्षस्य पुरुषार्थत्वं न स्यादिति चेत्, दीयतां जलाञ्जलिस्तस्मै। परमानन्दरूपत्वेन तु तस्य पुरुषार्थत्वं वेदान्तविदो वदन्ति।

अतो भगवद्भक्तियोगस्यापि दुःखासम्भिन्नसुखत्वेनैव परमपुरुषार्थत्वमित्याह—निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखमिति।

एतेन भक्तिर्न पुरुषार्थो धर्मार्थकाममोक्षेष्वनन्तर्भावादित्यादिकं सर्वमपास्तम्। धर्मार्थकामानां स्वतःपुरुषार्थत्वाभावात्तज्जन्यसुखस्यैव पुरुषार्थत्वे गौरवादननुगमाच्च धर्मजन्यत्वादिविशेषणं परित्यज्य सुखमात्रं पुरुषार्थ इति स्थिते समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि

होनेसे अन्यथासिद्ध है और सुख दुःखाभावका व्यापक नहीं है इसलिये वह (सुख) स्वतंत्र ही पुरुषार्थ है।

[फिर प्रश्न होता है कि] यदि दुःखाभाव का सुखार्थत्वेन उपयोग हुआ तो सम्पूर्ण सुखोंसे शून्य और दुःखके भी अभावरूप मोक्षमें पुरुषार्थता नहीं रहेगी ?

[उत्तर]—न रहती हो तो न रहे, छोड़िये उसे, परम आनन्द रूप होनेसे मोक्षकी पुरुषार्थता तो स्वयं सिद्ध है जैसाकि वेदान्ती लोगोंने माना है।

दुःखासम्भिन्न सुख ही परम पुरुषार्थ है इसलिये भगवद्भक्ति योगके भी दुःखासम्भिन्न सुखरूप होनेसे उसमें भी परमपुरुषार्थता है, यही बतानेके लिये कहा है—"वह निरुपम सुख संविद्रूप है और दुःख उसे छू तक नहीं पाता।"

इस कथनसे "भक्ति पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि धर्मार्थ काम मोक्षमें ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है" ऐसा कहनेवालोंके सारे मत परास्त हो गये। क्योंकि धर्म अर्थ काम मोक्ष स्वतः पुरुषार्थ नहीं हैं। उनसे होने वाले सुखको पुरुषार्थ मानें तो गौरव होता है और अननुगम (कार्यकारणमें एकरूपता) भी। [धर्म जन्य सुखके प्रति कार्य कारण अलग होगा; अर्थ, काम और मोक्ष जन्यके प्रति अलग। इस प्रकार धर्मजन्य, अर्थजन्य, कामजन्य और मोक्षजन्य ये चार सुख मानने पड़ेंगे, इसमें गौरव होगा।]

इसलिये धर्मजन्यत्वादि विशेषण छोड़कर केवल सुखमात्रको पुरुषार्थ

स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्। तस्य मोक्षसमीपवर्तितया मोक्षान्तर्भूतत्वे योगजधर्मजन्या धर्मान्तर्भूतत्वे वा भक्तिसुखस्यापि भागवतधर्मजन्यतया धर्मान्तर्भावस्य श्रद्धाजडान् प्रति वक्तुं शक्यत्वात्। भक्तस्य संसारमोक्षस्यावश्यकत्वान्मोक्षान्तर्गतो वा भक्तियोगः। तस्मात् पुरुषार्थचतुष्टयान्तर्गतत्वेन वा स्वातन्त्र्येण वा भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्।

तस्य परमानन्दरूपतामुपपादयन्नवान्तरविभागमाह—नवरसमिलितं वा केवलं वेति। स्पष्टमेतदुपरिष्टात् करिष्यते। मुकुन्द इति भक्तियोगस्य विषयनिर्देशः। सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर एव भक्तिरसालम्बनविभाव इति वक्ष्यते। ग्रन्थादौ चेदं मङ्गलमाचरितम्।

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम्।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः॥

इति स्मृतेः।

मानें तो समाधि सुखकी भाँति ही भक्ति सुख भी भागवतधर्म जन्य होनेसे उसका धर्ममें ही अन्तर्भाव समझ लें, ऐसा धर्मके प्रति जिनकी अन्ध श्रद्धा है उनसे कहा जा सकता है। भक्तिके लिये संसार में मुक्त होना आवश्यक है इसलिये उसे (भक्ति योगको) भी मोक्षके ही अन्दर मान लें ऐसा मोक्षपर अन्ध श्रद्धा रखनेवालोंसे भी कह सकते हैं। इसलिये भक्तियोगको पुरुषार्थचतुष्टयके अन्दर मानें अथवा स्वतत्र रूपसे पृथक् पुरुषार्थ मानें, परमानन्दरूप होनेसे है वह पुरुषार्थ ही, यह निर्विवाद सिद्ध है।

उस भक्ति योगकी परमानन्दरूपताका उपपादन करते हुए उसके अवान्तर विभाग कहे हैं—"उसे नौ रसोंसे मिला हुआ मानें अथवा स्वतंत्र रूपसे अकेला ही रस मानें" ऐसा। इसको आगे (दूसरे उल्लासमें) स्पष्ट करेंगे। 'मुकुन्द' पदसे भक्तियोगके विषयका निर्देश किया गया है। सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर भगवान् ही भक्तिरसका आलम्बन विभाव है—यह भी आगे स्पष्ट करेंगे। यह मुकुन्दका नाम ग्रहण ग्रन्थके आदिमें मङ्गलाचरण रूपमें किया गया है क्योंकि—

"सर्वदा और सभी कार्योंमें उनका कभी अमङ्गल नहीं होता जिनके हृदयमें मंगलायतन साक्षात् भगवान् स्थित रहते हैं" ऐसा स्मृतियोंमें कहा है।

'तमहं व्यनज्मि' इत्यभिधेयसम्बन्धनिर्देशः, शास्त्रदृष्ट्येत्यमूलत्वनिवारणम्। 'अखिलतुष्ट्यै' इति प्रयोजननिर्देशः। साधूनां हि तुष्टिः स्वाभाविकी। अन्येषामप्येतद्ग्रन्थोक्तयुक्तिभिरसम्भावनाविपरीतभावनादिनिवृत्याऽन्तःकरणशुद्धेर्हेतोरित्यभिप्रायः।

के पुनर्भक्तियोगस्य पुमर्थत्ववादाः? शृणु तान्—

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्[1] ॥ ३३ ॥

"तमहं व्यनज्मि" (उसकी मैं विवेचना करता हूं) इस वाक्यसे ग्रन्थके अभिधेय और प्रतिपाद्य (भक्तियोग) प्रतिपादक ग्रन्थ एतद्रूप सम्बन्धका निर्देश है। अर्थात् इस ग्रन्थमें क्या विषय प्रतिपादन किया गया है? इसकी सूचना दी है। "शास्त्रदृष्ट्या" कहनेसे यह स्पष्ट किया है कि इस ग्रन्थमें जो कुछ कहा गया है वह शास्त्रोक्त प्रमाणोंके आधारपर ही कहा गया है, अपने मनसे नहीं। अतः एतदुक्त सबको ग्राह्य होना चाहिये। "अखिलतुष्ट्यै" (सबकी तुष्टिके लिये) इस पदसे ग्रन्थका प्रयोजन बताया है। सज्जन लोगोंका तो प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है, अन्य लोगोंको भी ग्रन्थमें कही गई युक्तियोंसे भक्तियोगके पुरुषार्थत्वपर असम्भावना, विपरीतभावना आदिकी निवृत्ति होकर अन्तःकरणकी शुद्धिमें यह कारण बनेगा। यह इस पदका अभिप्राय है।

[पुरुषार्थत्वको सिद्ध करनेवाली युक्तियाँ भक्तियोगमें नहीं घटतीं अतः वह पुरुषार्थ हो ही नहीं सकता—यह असम्भावना हुई। युक्तियाँ तो कुछ-कुछ घटती हैं पर चार पुरुषार्थोंमें ही वह भी आसकता है अतः स्वतंत्र उसे माननेकी आवश्यकता नहीं—यह विपरीत भावना हुई। आदि पदसे संशय आदि लिये जायेंगे]

अब भक्तियोगकी पुरुषार्थताको सिद्ध करनेवाले वचन कौन हैं? उन्हें भी सुनें—

"जन्ममरणरूप इस संसारमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिके लिये इसके सिवा दूसरा कोई कल्याणकारकमार्ग नहीं कि जिससे भगवान् वासुदेवमें भक्तियोग होवे ॥ ३३ ॥

---

१. भा० २।२।३३।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्[१] ॥ ८ ॥
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते[२] ॥ २४ ॥
भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत्[३] ॥ ३४ ॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्[४] ॥ ४४ ॥

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किम्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्[५] ॥ १० ॥

इत्यादयः । अत्रहि सर्वसुकृतसाध्यत्वेन तात्पर्यविषयत्वेन चार्थान्निः-

मनुष्योंके लिये अच्छी प्रकार अनुष्ठित धर्मसे यदि भगवान्‌की कथाओंमें अनुराग न उत्पन्न हुआ तो वह धर्म नहीं केवल कोरा श्रम ही है ॥ ८ ॥

दान, व्रत, तपस्या, होम, जप, स्वाध्याय, संयम तथा और भी जो विविध प्रकारके कल्याणकारक कर्म हैं उनसे केवल भगवान् कृष्णमें भक्ति होना ही सिद्ध होता है अर्थात् वे सब भगवद्‌भक्तिके ही साधन हैं ॥ २४ ॥

भगवान् ब्रह्माने अच्छी प्रकार बुद्धिसे तीन बार विचार किया और अन्तमें यह निश्चय किया कि आत्मस्वरूपमें रतिसे ही कल्याण हो सकता है ॥

इस लोकमें पुरुषोंके लिए निःश्रेयसके उदयका मार्ग यही है कि वे तीव्र भक्ति योगसे अपने मनको मुझमें अर्पण करके स्थिर कर लें ॥ ४४ ॥

हे नाथ ! प्राणियोंको जो आनन्द आपके चरणोंका ध्यान करनेसे अथवा आपके भक्तोंकी कथा सुननेसे प्राप्त होता है वह साक्षात् ब्रह्मप्राप्तिमें भी नहीं हो सकता । यमराजकी तलवारसे मारे हुए की तरह स्वर्गसे गिरने-वालोंकी तो बात ही क्या है ॥ ॥ १० ॥ इत्यादि ।

इन वाक्योंमें, सम्पूर्ण पुण्योंसे साध्य होनेसे और समग्र वेदोंका तात्पर्य-

---

१. भा० १।२।८। २. भा० १०।४७।२४। ३. भा० २।२।३४।
४. भा० ३।२५।४४। ५. भा० ४।९।१०।

श्रेयसनिर्वृतिशब्दाभ्याञ्च साक्षादेव पुरुषार्थत्वं दर्शितम् । श्रीमद्भगवद्गीतासु च--

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः[1] ॥ ४७ ॥

इत्यादिना । ननु भक्तियोगस्य साधनत्वमपि बोधयन्त्यन्ये वादाः-

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च, यदहैतुकम्[2] ॥ ७ ॥
अकामस्सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्[3] ॥ १० ॥
केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः[4] ॥ १५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतासु च—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्[5] ॥५५॥

विषय होनेसे अर्थात् निःश्रेयस और निर्वृति शब्दोंसे, साक्षात् पुरुषार्थता भक्तियोगकी दिखाई है ।

श्री भगवद्गीतामें—संपूर्ण योगियोमें भी जो अत्यन्त श्रद्धालु होकर अन्तरात्माको मुझमें अर्पण करके मेरा भजन करता है वह योगी मुझे अत्यन्त प्रिय है—इत्यादि वचनोंसे यही प्रतिपादन किया है ।

[शंका—] कुछ ऐसे भी वचन मिलते हैं जिनसे भक्तियोग का साध्य न होकर साधन होना सिद्ध होता है । जैसे—भगवान् वासुदेवमें प्रयुक्त किया हुआ भक्तियोग शीघ्र ही वैराग्यको उत्पन्न करता है और उस ज्ञानको भी उत्पन्न करता है जो अहैतुक अर्थात् शुष्कतर्कादिसे रहित है ॥ ७ ॥

मनुष्य निष्काम हो, सकाम हो अथवा मोक्ष चाहता हो, उसे चाहिये कि उदार बुद्धि होकर तीव्र भक्तियोगसे उस परम पुरुषकी आराधना करे ॥

कुछ लोग भगवान् वासुदेवमें ही अनुरक्त होकर केवल भक्तिके द्वारा सम्पूर्ण पापोंको इस प्रकार नष्ट कर लेते हैं जैसे सूर्य ओसको नष्ट कर देता है ॥

१. गी० ६।४७। २. भा० १।२।७। ३. भा० २।३।१०।
४. भा० ६।१।१५। ५. गी० १८।५५।

इत्यादयः। अत्रान्यसाधनत्वेन साक्षादपुरुषार्थत्वं स्पष्टमेवोक्तम्।

अत्रोच्यते—फलसाधनभेदेन भक्तिद्वैविध्योपपत्तेरदोषः। तथा हि—"भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति" भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते। तस्य च निरतिशयपुमर्थत्वात् पूर्वोक्तवादानां प्रामाण्यमव्याहतम्। तथा, "भज्यते=सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति" करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवणकीर्तनादि साधनमभिधीयते, तस्य पुरुषार्थत्वाभावात् साधनत्ववादानामपि प्रामाण्यमविरुद्धम्। यथा "विज्ञप्तिर्विज्ञानम्" इति भावव्युत्पत्त्या "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म[१]" इत्यत्र विज्ञानशब्दो ब्रह्मणि वर्तते, "विज्ञायतेऽनेन" इति करणव्युत्पत्त्या "विज्ञानं यज्ञं तनुते"[२] इत्यादावन्तःकरणे

श्री भगवद्गीतामें भी कहा है—उस पराभक्तिसे मैं जो हूं और जिस प्रकारके प्रभाववाला हूं, वह मुझे पूर्ण रूपसे जान लेता है। भक्तिसे मुझे पूर्ण रूपसे जानकर तब मुझमें ही प्रवेश कर लेता है अर्थात् अनन्य भावसे मुझे प्राप्त हो जाता है, फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवा अन्य कुछ नहीं रह जाता॥ ५५॥ इत्यादि

उपर्युक्त वचनोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्तियोग भी भगवत्प्राप्ति का साधन है, इसलिये (साध्य न होनेसे) वह साक्षात् पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

[समाधान—] इस पर कहते हैं—

फल और साधन-भेदसे भक्तिको दो प्रकारकी माननेसे कोई दोष इसमें नहीं रहता। जैसे कि "भजनम्—अर्थात् अन्तःकरणका भगवदाकार होना ही भक्ति है" इस प्रकार भावमें प्रत्यय करके भक्ति शब्दकी व्युत्पत्ति करें तो भक्तिका अर्थ होता है—फल, इस फलके निरतिशय पुरुषार्थ होनेसे पूर्वोक्त प्रामाणिकता बनी रहती है और "भज्यते=सेव्यते—अर्थात् अन्तःकरणको भगवदाकार रूप किया जाता है जिसके द्वारा, वही भक्ति है" इस प्रकार करणसे व्युत्पत्ति करें तो भक्ति शब्दसे श्रवण कीर्तनादिका बोध होता है और भक्ति स्वयं पुरुषार्थ न होकर परम्परया उसका साधन हो जाती है। इससे साधन माननेवाले वचन भी प्रमाणरूप ही ठहरते हैं। जैसे "विज्ञप्ति ही

१. बृ० उ० ३।९।२। २. तै० उ० २।५।१

वर्तते, तद्वत् । एतच्च स्पष्टीकृतं प्रबुद्धेन—

✓स्मरन्तस्स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।

भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् [1] ।। इति ।

अत्र करणव्युत्पत्त्या प्रथमभक्तिशब्दो भागवतधर्मेषु प्रयुक्तः, द्वितीयस्तु भाववयुत्पत्या फले ।

✓इति भागवतान्धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।

नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् [2] ।।३३।।

इत्युपसंहारे प्रथमभक्तिपदस्थाने भागवतधर्मशब्दप्रयोगात् ।

न च यथाऽध्ययनस्याक्षरग्रहणात्मकस्याप्यक्षरग्रहणमेव फलम्, विज्ञान है'' ऐसा भावमें प्रत्यय करके विग्रह करनेसे ''विज्ञानं ब्रह्म'' इस वाक्यमें विज्ञान शब्दका प्रयोग ब्रह्मके अर्थमें होता है और ''विज्ञायते अनेन—जाना जाता है जिससे'' इस प्रकार करणमें प्रत्यय करनेपर ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' इत्यादि वाक्योंमें विज्ञान शब्द अन्तःकरण अर्थमें आता है। इसी प्रकार भक्तिके भी दोनों प्रकार माने जा सकते हैं। इसे प्रबुद्धने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

पाप समूहका नाश करनेवाले भगवान्‌को स्मरण करते हुए और परस्पर एक दूसरेको स्मरण कराते हुए [साधन रूप] भक्तिसे उत्पन्न जो [फलरूप] भक्ति है उससे उनका शरीर रोमांचित हो जाता है ।।३१।।

यहाँ पर करणमें प्रत्ययसे प्रथम भक्ति शब्दका भागवत धर्मोंके अर्थमें प्रयोग किया गया है और द्वितीय भक्ति शब्दका भावव्युत्पत्तिसे फल अर्थमें।

[शंका—प्रथम भक्ति शब्दका तृतीयान्त होनेसे साधन होना तो प्रतीत होता है किन्तु उसका भागवत धर्मोंके अर्थमें प्रयोग किया गया है, यह कैसे समझा जाय ? समाधान—]

''इस प्रकार भागवत धर्मोंको सीखता हुआ उनसे उत्पन्न हुई भक्तिसे नारायणमें तन्मय होकर अनायास ही दुस्तर मायाको तर जाता है।'' ।।३२।।

इस उपसंहार वाक्यमें प्रथम भक्ति पदके स्थानमें भागवतधर्म शब्दका प्रयोग होनेसे प्रथम भक्ति पदका भागवतधर्म ही अर्थ है।

[प्रश्न] जैसे कोई शिष्य गुरुके पास पढ़ने जाता है। जब तक मंत्रादि

---

१. भा० ११।३।३१। २. भा० ११।३।३३।

गुर्वधीनत्वतदनधीनत्वाभ्यां विशेषात्। एवमत्रापि भागवतधर्मरूपा भक्तिरेव गुर्वधीनत्वेन साधनं, तदनधीनत्वेन च निष्ठां प्राप्ता सती सैव फलमिति न साधनफलभेदेन भक्तिद्वैविध्योपपत्तिरिति वाच्यम्,

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति नमन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः[1] ॥३२॥

इति मध्ये कृतकृत्यत्वपरामर्शात्।

गुरुके अधीन रहते हैं और शिष्य उन्हें सीखता हैं, तब तक वे साधन होते हैं जब सीख चुका और स्वयं स्वाध्याय करता है या दूसरोंको सिखाता है, तब वे ही फल रूप हो जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी भागवतधर्मरूपा भक्ति ही जब तक गुरुके अधीन रहती है अर्थात् साधक शिष्य उसे सीखता है तबतक वह साधन भक्ति होती है और जब शिष्यमें ही पूर्णनिष्ठाको प्राप्त हो जाती है तब वही फलरूप हो जाती है। इस प्रकार साधन और फलरूपसे भक्तिके दो प्रकार हो सकते हैं ?

[उत्तर—] ऐसा नहीं कह सकते

"कभी भगवान्की चिन्तासे वे (भक्त जन) रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी प्रसन्न रहते हैं और अलौकिक भगवद्गुणोंका कीर्तन करते हैं, नाचते हैं, गाते हैं और उस परमात्माका अनुशीलन करते हैं। अन्तमें परम आनन्दको प्राप्त होकर शान्त (कार्योंसे विरक्त) हो जाते हैं॥३२॥"

इस वचनसे सिद्ध होता है कि मध्यमें ही अर्थात् भगवद्गुण-श्रवणके अनन्तर ही वे भगवत्प्राप्तिसे कृतार्थ होजाते हैं। इसके बाद कोई अवस्था शेष नहीं रह जाती जिसका साधन इस कृतार्थताको माना जाय।

[यदि दोनों प्रकारसे भागवतधर्मरूपा ही भक्ति ली जाती है तो भक्तिका कार्यरूप कृतकृत्यता (भगवत्स्वरूपप्राप्तिसे कृतार्थ हो जाना) के प्रति साक्षात्साधन कोई भिन्न ही कहना चाहिये। उसे न कहकर पूर्वोक्त श्लोकोंके बाद "क्वचिद्रुदन्ति···" इस श्लोकसे कृतकृत्यताका प्रतिपादन किया गया है। उससे भिन्न कोई साधन युक्तिपूर्ण न होनेसे रोमाञ्च होना, मायाका

१. भा० ११।३।३२।

यदा ह्यध्ययनफलस्याक्षरग्रहणस्यार्थज्ञानानुष्ठानादिवद्भागवतधर्मजनिताया भक्तेरपि फलान्तरे साधनत्वमभविष्यत्, तदा परं पुरुषार्थं प्राप्य निर्वृतास्तूष्णीं भवन्तीति कृतार्थतां नावक्ष्यत्; अपितु तदनन्तरमनुष्ठेयान्तरं निरदेक्ष्यत्, न च निर्दिशति। तस्मात् साधनफलभेदेन भक्तिद्वैविध्योपपत्तेः साधनत्ववचनानां फलत्ववचनानाञ्च विषयविभागेन सर्वत्राविरोधस्सिद्धः। "अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन" इत्यादि तु फलसाधनयोः समानम्, फलरूपाया अपि भक्तेर्दृष्टफलकताया वक्ष्यमाणत्वात्। एवञ्च—

इद हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्तनम्[1] ॥२२॥

संतरण हो जाना आदिका कारण पूर्वोक्त भक्ति ही होगी। अतः उसीको साक्षाद् भक्तिका कारण मानना चाहिए। इस प्रकार उसमें भागवतधर्मरूपता न रहेगी। इस विचार से कहा गया है—क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया०]

अध्ययनके फलस्वरूप जो अक्षरग्रहण है, वह जैसे अर्थज्ञानका और अर्थज्ञान उसके अनुष्ठानका साधन होता है वैसे ही यदि भागवत धर्मसे उत्पन्न भक्तिकी भी फलान्तरमें साधनता होती तो "परम पुरुषार्थको पाकर तृप्त हुए शान्त हो जाते हैं" इत्यादिसे उन भक्तोंकी कृतकृत्यताका वर्णन न करते, वल्कि उसके बाद उनके योग्य कर्मों या चेष्टाओंका निर्देश करते! किन्तु ऐसा कोई निर्देश नहीं किया है। इसलिये साधनरूपा और फलरूपा ये भक्तिके दो प्रकार युक्तितः सिद्ध हैं और साधनत्वको सिद्ध करनेवाले तथा फलत्वको सिद्ध करनेवाले वचनोंका अलग-अलग विषय-विभाजन हो जानेसे उनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं रह जाता। "सम्पूर्ण पापको नष्ट कर देते हैं" इत्यादि वाक्य तो फलरूपा भक्तिमें और साधनरूपा भक्तिमें समान रूपसे सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् दोनोंसे सम्पूर्ण पापोंका धुलजाना सिद्ध है क्योंकि फलरूपा भक्ति भी दृष्टफला और अदृष्टफला [दो प्रकार की] होती है, ऐसा आगे कहा जायगा।

इस प्रकार (फल और साधनरूपसे भक्तिके दो प्रकार सिद्ध हो जानेपर)

"यह जो उत्तमश्लोक (श्रेष्ठ चरितवाले) भगवान्के गुणोंका अनुरणन

---

१. भा० १।५।२२।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्[१] ।।४।।

इत्यादौ साधनवचनं फलपरतया योजनीयम्, "गोभिःश्रीणीत मत्सरम्" इतिवत् । तत्र हि गोप्रभवैः क्षीरैर्मत्सरम् = सोमरसं मिश्रये- दित्यर्थःस्थितः पूर्वतन्त्रे । उत्तरतन्त्रे च 'महतः परमव्यक्तम्' इत्यत्रा- व्यक्तशब्दस्तत्प्रभवशरीरमाचष्ट इति स्थितमानुमानिकाधिकरणे "सूक्ष्मन्तु तदर्थत्वाद्" इत्यत्र । एवमत्रापि गुणानुवर्णनगुणानुवादशब्दौ च तज्जन्यप्रीतिपरतया योज्यौ, अन्यथा परमपुरुषार्थत्वायोगात् ।

है इसीको कवियोंने पुरुषकी तपस्या, शास्त्राध्ययन, अच्छी प्रकार विधिपूर्वक यज्ञ करना, सुन्दर वाणी बोलना अथवा स्तुति करना, बुद्ध (ज्ञान) और दान आदिका कभी नाश न होनेवाला फल रूपसे निरूपण किया है ।।२२।।

जिनकी सब तृष्णाएँ समाप्त हो गई हैं ऐसे भक्तों द्वारा गाये जाते हुए संसाररूप रोगकी एकमात्र औषधि, सुननेमें अत्यन्त मनोहर पुण्यश्लोक भगवान्के गुणानुवादसे कौन व्यक्ति विरक्त होगा सिवा पशुहन्ताओंके ।।४।।

[पशुघ्न शब्दका अभिप्राय यहाँ उन मीमांसकोंसे है जो यज्ञादि कर्मको ही सब कुछ मानकर उसमें पशुवध करवाते हैं और भक्तिको नहीं मानते]

उपर्युक्त प्रकारके वाक्योंमें जो भक्तिको साधनरूप माना गया है उसे भी फलपरक ही समझना चाहिये । जैसे --"गोभिः श्रीणीत मत्सरम्—गायोंसे सोमको मिलावे" इस वाक्यमें गोभिःका अर्थ है गायोंसे निकले हुए दूधोंसे, मत्सर अर्थात् सोमरसका मिश्रण करे । यह अर्थ पूर्वमीमांसा (कर्मकाण्ड) मे किया गया है । उत्तर तन्त्र (ज्ञानकाण्ड अर्थात् शारीरकमीमांसा सूत्र भाष्यादि ग्रन्थों) में "महत् (बुद्धि) से पर अव्यक्त है" इसका निरूपण करते समय आनुमानिक अधिकरणके "सूक्ष्मं तु तदर्थत्वात्" इस सूत्रमें "अव्यक्त शब्दसे उससे उत्पन्न हुआ शरीर लिया जाता है" यह लिखा है । इसी प्रकार यहाँ भी गुणानुवर्णन और गुणानुवाद शब्दोंसे गुणानुवर्णन या गुणानुवादसे होनेवाली प्रीतिको ही समझना चाहिये, नहीं तो भक्तिका परम- पुरुषार्थ होना सिद्ध न होगा ।

---

१. भा० १०।१।४।

ननु तर्हि नामान्तरेण ब्रह्मविद्यैव भगवद्भक्तिरित्युक्तम्। तथा हि—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"[1] इत्यादिश्रुत्या सर्वसुकृतसाध्यत्वेन ब्रह्मविद्या प्रतिपादिता। सर्वापेक्षाधिकरणे च तथैव निर्णीता। इहापि पूर्वोदाहृतवचनैः सर्वसुकृतसाध्यत्वेन लक्षणेन भगवद्भक्तेर्ब्रह्मविद्यारूपतायाः प्रतिपादनात्तस्याश्च निरतिशयपुमर्थत्वस्य चतुर्लक्षणमीमांसयाऽप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिनिवारणेन व्यवस्थापितत्वाद्व्यर्थोऽयं विचारारम्भ इति चेत् ?

न, स्वरूपसाधनफलाधिकारिवैलक्षण्याद्भक्तिब्रह्मविद्ययोः। द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्तिः,

[प्रश्न—] यदि भगवद्भक्ति ही परमपुरुषार्थ है (और वह भगवद्भक्ति वही है जैसी कि पूर्वोक्त श्लोकोंमें वर्णन की गई है) तो ब्रह्मविद्यामें और इसमें कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता, अतः ब्रह्मविद्याका ही नामान्तर भगवद्भक्ति है, ऐसा माना जाय ? क्योंकि जैसे "उस इस परब्रह्मको ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता लोग) वेदोंके पारायणसे, यज्ञोंसे, दानसे, निष्काम तपश्चर्यासे जाननेकी इच्छा करते हैं" इत्यादि वेदवाक्योंसे सम्पूर्ण सुकृतों द्वारा ब्रह्मविद्याका साध्य होना प्रतिपादित किया गया है। सर्वापेक्षाधिकरणमें ब्रह्मविद्याका इस प्रकार निर्णय किया गया है। इस ग्रन्थमें भी पहिले कहे हुए वचनोंके अनुसार सर्वसुकृत-साध्यरूप लक्षणसे भगवद्भक्तिका ब्रह्मविद्यारूप होना ही प्रतिपादित होता है और उस ब्रह्मविद्याका निरतिशय पुरुषार्थ होना चतुर्लक्षणी मीमांसा-द्वारा अप्रतिपत्ति (अज्ञान) और विप्रतिपत्ति (विरोध)का निवारण करके व्यवस्थापित कर चुके हैं। इसलिये अब इस विषयपर पुनः विचार प्रारम्भ करना व्यर्थ ही है ?

[उत्तर—] ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भक्ति और ब्रह्मविद्याके स्वरूप, साधन, फल और अधिकारी अलग-अलग हैं। इनमें अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न विलक्षणताएँ हैं।

---

१. बृ० उ० ४।४।२२।

द्रवीभावानुपेताऽद्वितीयात्ममात्रगोचरा निर्विकल्पकमनोवृत्तिर्ब्रह्मविद्या।" भगवद्गुणगरिमग्रन्थनरूपग्रन्थश्रवणं भक्तिसाधनम्, तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यं ब्रह्मविद्यासाधनम्। भगवद्विषयकप्रेमप्रकर्षो भक्तिफलम्, सर्वानर्थमूलाज्ञाननिवृत्तिर्ब्रह्मविद्याफलम्। प्राणिमात्रस्य भक्तावधिकारः, ब्रह्मविद्यायान्तु साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य परमहंसपरिव्राजकस्य।

[उन विलक्षणताओंको स्पष्ट करते हुए दोनोंका पार्थक्य सिद्ध करते हैं और प्रथमतः दोनोंका पृथक् स्वरूप-निरूपण करते हैं—]

चित्तका द्रवीभाव हो जानेपर सविकल्पक वृत्ति रूपसे मनका भगवदाकार होना ही भक्ति है और चित्तका द्रवीभाव हुए विना ही अद्वितीय आत्ममात्रका साक्षात्कार होकर निर्विकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्मविद्या कहलाती है।

[दोनोंका साधन भेद—]भगवान्के गुणोंकी गरिमा जिसमें गाई गई हो ऐसे ग्रन्थोंका श्रवण भक्तिका साधन है (अर्थात् भगवद्गुणगौरवका श्रवण करनेसे भक्ति होती है) और "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्योंका अनुशीलन ब्रह्मविद्याका साधन है।

[दोनोंके फलमें भेद—] भगवद्विषयक प्रेमका अत्यन्त बढ़ जाना ही भक्तिका फल है और सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ जो अज्ञान है उसकी निवृत्ति हो जाना मात्र ब्रह्मविद्याका फल है।

[अधिकारी भेद—] प्राणिमात्रका भक्तिमें अधिकार है अर्थात् प्राणिमात्र भगवान्की भक्ति कर सकता है किन्तु ब्रह्मविद्या का अधिकारी वही है जो [१]साधन-चतुष्टय-सम्पन्न परमहंस परिव्राजकाचार्य हो।

---

१. साधन-चतुष्टय इस प्रकार हैं—

१. नित्यानित्यवस्तुविवेक—"ब्रह्म ही एक नित्यवस्तु है उसके अतिरिक्त सब अनित्य है" यह ज्ञान हो जाना।

२. इहामुत्रार्थफलभोगविराग—ब्रह्मके अतिरिक्त सभी जब अनित्य है तो इहलोककी सारी भोगसामग्री और परलोक सम्बन्धी स्वर्गादि सुख भी अनित्य अर्थात् नाशवान् होंगे, यह सोचकर उनसे घृणा हो जाना।

यज्ञदानादिसर्वसुकृतसाध्यत्वं तु समानं भक्तिब्रह्मविद्ययोः स्वर्ग-विविदिषयोरिव। यथा "स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इतिस्थित एव स्वर्गसाधनत्वे "सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्श-पौर्णमासौ" इतिवाक्येन फलान्तरत्वमपि बोध्यते। तथा "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादिना विविदिषासाधनत्वमपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन बोध्यते, तथा भक्तिब्रह्मविद्य-

[शंका—यदि भक्ति और ब्रह्मविद्या अलग अलग हैं तो सर्वसुकृत-साध्यत्व जो कि ब्रह्मविद्याका लक्षण था भक्तिमें भी घटता है, अतः लक्षणमें अतिव्याप्ति हो गई ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि सर्वसुकृतसाध्यत्व लक्षणपरक नहीं है। वह तो दोनोंमें समान रूपसे रहनेवाला एक धर्म है—]

यज्ञ-दानादि सम्पूर्ण सुकृतोंसे साध्य होना तो भक्ति और ब्रह्मविद्या दोनोंमें समान ही है जैसे कि स्वर्ग और विविदिषामें। [इसी स्वर्ग और विविदिषाके दृष्टान्तको स्पष्ट करते हैं—] जैसे "स्वर्गकी इच्छा करनेवाला दर्श-पौर्णमास यज्ञ करे" इस वाक्यसे दर्शपौर्णमासका स्वर्गप्राप्तिका साधन होना निश्चित है किन्तु "सब कामनाओंकी प्राप्तिके लिए दर्शपौर्णमास यज्ञ हैं" इस वाक्यसे स्वर्गके सहित अन्य कामनाएँ भी दर्शपौर्णमाससे पूर्ण होती हैं, यह स्पष्ट ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार "उस परमात्माको ब्रह्मवेत्ता जन वेदानुवचनसे, यज्ञसे, तपसे जानना चाहते हैं" इस वचनके अनुसार यह यज्ञ स्वर्गका साधन होता हुआ संयोग-पृथक्त्व न्यायसे विविदिषाका भी साधन है।

---

३. शम—अन्तरिन्द्रियों (मन, बुद्धि, अहंकार) की वृत्तिको रोकना। दम—वहिरिन्द्रियों (ज्ञान-कर्मेन्द्रियों १०) की वृत्तिको रोकना। उपरति-नित्य नैमित्तिक आदि कर्मोंका शास्त्रोक्त विधिसे त्याग अर्थात् संन्यास ग्रहण करना। तितिक्षा—सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति होना। समाधान—वशीभूत मनको श्रवण आदिमें लगाकर निरभिमान हो गुरुशुश्रूषा आदि करना। श्रद्धा—गुरूक्त वेदान्तवाक्योंपर विश्वास करना, यह शमादि-षट्कसम्पत्ति कहलाती है।

४—मोक्ष (अज्ञान तथा तज्जन्य सांसारिक प्रतीतिको ज्ञान द्वारा नष्ट करके ब्रह्मस्वरूपमें स्थित होने) की भावना।

ये ही वेदान्तमें साधन-चतुष्टय कहलाते हैं।

योरपि भविष्यति। सामग्र्यैक्यं हि कार्यैक्ये न तु कारणमात्रैक्ये, अतिप्रसङ्गात्। एवं भक्तिब्रह्मविद्ययोरपि स्वर्गविविदिषयोरिव फलसाधनभावाभावश्च तुल्यसाधनसाध्यत्वञ्च भविष्यति।

ननु ब्रह्मविद्यातिरिक्तत्वे भक्तेः स्वर्गादिवन्निरतिशयपुरुषार्थत्वं न स्यादिति चेन्न, स्वर्गादेर्नियतदेशकालशरीरेन्द्रियादिभोग्यत्वेन सर्वत्रोपभोक्तुमशक्यत्वात् क्षयित्वपारतन्त्र्यलक्षणदुःखद्वयानुविद्धत्वेन निरतिशयत्वाभावेऽपि भक्तिसुखधारायास्सर्वदेशकालशरीरेन्द्रियादिसाधारण्येन ब्रह्मविद्याफलवदुपभोक्तुं शक्यत्वात् क्षयित्वपारतन्त्र्यलक्षणदुःखद्वयानुवेधाभावेन निरतिशयत्वोपपत्तेः।

[संयोग पृथक्त्व न्यायका अर्थ है—"एकस्य तूभयत्वे संयोगः पृथक्त्वम्—अर्थात् एकका दोनोंसे जुड़ा रहना उन दोनों के पृथक्त्वका सूचक होता है।"]

इसी प्रकार सर्वसुकृतसाध्यत्व भी भक्ति और ब्रह्मविद्या दोनोंमें हो जायगा।

[फिर प्रश्न होता है कि कारण एक होनेपर तो कार्यमें भी एकता होनी ही चाहिये, अतः जब सर्वसुकृत दोनोंका साधन है तो दोनोंमें भिन्नता कैसे ? समाधान—]सम्पूर्ण कारण एक होने पर कार्यमें एकता हो सकती है। केवल निमित्त कारण एक होने पर नहीं, इससे अतिप्रसङ्ग हो जायगा। इस प्रकार भक्ति और ब्रह्मविद्याका स्वर्ग और विविदिषाकी तरह ही फल-साधनभाव न होना और तुल्य साधन-साध्य होना सिद्ध हो जायगा।

[प्रश्न—] यदि भक्तिको ब्रह्मविद्यासे पृथक् मानेंगे तो जैसे स्वर्गादि ब्रह्मविद्यासे भिन्न होनेके कारण निरतिशय पुरुषार्थ नहीं माने जाते ऐसे ही भक्तिमें भी निरतिशयपुरुषार्थता नहीं रहेगी ?

[उत्तर—] ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि स्वर्गादि किसी निश्चित देश, काल, शरीर, इन्द्रिय आदि द्वारा ही भोगे जा सकते हैं, उनका सर्वत्र उपभोग नहीं किया जा सकता। साथ ही स्वर्गादि विनाशशीलता (जो कि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध है) और परतन्त्रता रूप दो दुःखोंसे अनुविद्ध हैं। इसलिए वे निरतिशय नहीं कहे जा सकते किन्तु भक्तिसुखकी धाराका सभी देशोंमें, सभी कालोंमें, सभी देहोंसे, सभी इन्द्रिया-

तदुक्तम्—

त्यक्त्वा स्वधर्मंश्चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं को वाऽर्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः[1] ।१७।
न वै जनो जातु कथञ्चनाऽऽव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः[2] ॥१८॥
सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितंतद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः[3] ॥

इत्यादि । अत एवाऽऽपत्तावपि दुःखासंस्पर्शित्वप्रतिपादनायास्पृष्ट-दुःखमिति विशेषणमुपात्तम् । अत एव च न परिणतिविरसेन स्वर्गादिना साम्यम् । एतेन लौकिकरसवैलक्षण्यमपि व्याख्यातम्, तस्यापि

दिसे (ब्रह्मविद्या फलकी तरह) उपभोग हो सकता है और वह क्षयी तथा पारतंत्र्य रूप दुःखद्वय से अनुविद्ध भी नहीं है इसलिए उसमें निरतिशयत्व सिद्ध है । इसलिए कहा है—

"भगवान्‌के चरणारविन्दका भजन-रूप स्वधर्मको छोड़कर भक्तपुरुष यदि पूर्णताको प्राप्त किये बिना ही उससे विचलित हो जाय तो क्या उसका जहाँ कहीं भी कल्याण हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता "नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति"—गीता) किन्तु भगवच्चरणारविन्दका भजन न करनेवालोंने अपने धर्मोंसे क्या फल पाया ॥ १७ ॥

भगवान् मुकुन्दके चरणोंकी सेवा करनेवाला भक्त पुरुष अभक्तोंकी भाँति कभी भी जन्ममरणके चक्करमें नहीं पडता क्योंकि रसग्राही वह पुरुष भगवान्‌के चरणारविन्दका आश्रय लेकर उसे फिर छोड़ना ही नहीं चाहता ॥१८॥

भगवान् कृष्णके गुणोंमें अनुरक्त अपने मनको एकबार भी जिन्होंने कृष्णके चरणारविन्दोंमें लगादिया है वे सम्पूर्ण पापोंसे रहित होनेसे स्वप्नमें भी कभी यमराज और उनके पाशधारी दूतों को नहीं देखते । इत्यादि ।१६।

इसीलिए "आपत्तिमें भी दुःख इस भक्तिरसानन्दको छू नहीं सकता ।" यह प्रतिपादन करने के लिए (मूलश्लोकमें) "अस्पृष्टदुःखम्" यह विशेषण दिया है, इसीलिए परिमाणमें आनन्द-हीन स्वर्गादिके साथ उसकी समानता

---

१. भा० ११५।१७, २. भा० ११५।१८ । ३. भा० ६।१।१९ ।

शास्त्राविहितत्वेन पापक्षयाहेतुत्वेनाऽऽपत्तौ दुःखसंस्पर्शित्वात् । भक्तेस्तु दृष्टादृष्टफलतया महान् विशेषो वक्ष्यते ।

नन्वेवं सति भक्तिसुखाद्वैराग्यासम्भवेन मुमुक्षुत्वासम्भवात्तदधिकारिकचतुर्लक्षणमीमांसारम्भो न स्यादिति चेत्, सत्यम्, भक्तिसुखासक्तान् प्रति तस्या अनारम्भात् । भजनीयस्वरूपनिर्णयार्थं भक्तानामपि तद्विचारस्याऽऽवश्यकत्वाच्च । भक्तिसुखाद्वैराग्य न स्यादिति त्विष्टमेव नाऽऽपादितम् ।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः[१] ॥१०॥

इत्यादिना जीवन्मुक्तानामपि भगवद्भक्तिप्रतिपादनात् ॥१॥
(इति वक्ष्यमाणसर्वार्थसङ्ग्रहरूपप्रथमकारिकाविवरणम् ।)

नहीं हो सकती और इसीलिए लौकिक रसोंसे इसकी विलक्षणताका व्याख्यान किया है, क्योंकि लौकिक रस (शृंगारादि) शास्त्रविहित नहीं हैं अतः उनसे पापक्षय नहीं होता और आपत्तिमें दुःख उन्हें घेर लेते हैं ।

भक्ति तो दृष्टफला भी है और अदृष्टफला भी अतः उसकी महती विशेषता आगे कहेंगे ।

[प्रश्न] यदि उपर्युक्त कथन मानलें (अर्थात् भक्तिसुखको इस प्रकारका मानेंगे) तो भक्तिसुखसे वैराग्य होना सम्भव नहीं और वैराग्यके विना मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छावाला) होना संभव नहीं, मोक्षकी इच्छा ही न हुई तो मुमुक्षुको अधिकारी मानकर प्रवृत्त होनेवाली चार अध्यायोंकी जो मीमांसा (वेदान्त शास्त्र) है वह व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी ?

[उत्तर—] ठीक है, जो भक्तिसुखका आनन्द ले रहे हैं उनके लिये तो व्यर्थ ही है (उन्हें उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, अथवा यों कहिये कि) भजनीय भगवान्का जो स्वरूप है उसका निर्णय करने के लिए वह स्वरूप-विचार आवश्यक होता है । यदि कहें कि तब तो भक्तिसुखसे वैराग्य नहीं होगा ? न हो, यही तो हम चाहते हैं । इसमें कोई आपत्ति नहीं । क्योंकि-

यद्यपि मुनिलोग आत्मामें ही रमण करनेवाले होते हैं और उनके

१. भा० १ । ७ १० ।

संसाररोगेण बलीयसा चिरं
निपीडितैस्तत्प्रशमेऽतिशिक्षितम् ।
इदं भवद्भिर्बहुधा व्ययातिगं
निपीयतां भक्तिरसायनं बुधाः ॥२॥
द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥३॥

हे विद्वानो ! अत्यन्त बलवान् संसार (जन्म मरण)-रूप-रोगसे चिरकाल से पीड़ित हुए आप लोग उसे (संसार-रूप रोगको) शान्त करनेमें अति प्रवीण और कभी नाश न होनेवाले अथवा जिसमें किसी प्रकार का व्यय होनेकी सम्भावना नहीं ऐसे, इस भक्ति-रसायनको (भक्तिरूप रसायन=औषध अथवा भक्तिरसका अयन=आश्रय यह ग्रन्थ) बार बार पियें (ग्रन्थको पढें, विचारें और पढ़ावें) ॥ २ ॥

भगवद्धर्म अर्थात् भगवद्गुणश्रवणादिसे द्रवीभूत हुए चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्के विषयमें धारावाहिकताको प्राप्त हुई (तैलधारावत् अविच्छिन्न रूपसे भगवदाकार हुई) वृत्ति ही भक्ति कही जाती है ॥ ३ ॥

तस्मादस्य ग्रन्थस्य नामकनथद्वारा प्रयोजनमुपदिशति—**संसारेति** । स्पष्टम् ॥२॥

भगवद्भक्ते रसरूपतया पुमर्थतां वक्तु प्रथमं सामान्यलक्षणमाचष्ट-

हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ सुलझ जाती हैं (सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं) किन्तु फिर भी वे भगवान्में निष्काम भक्ति करते ही हैं क्योंकि भगवान्के गुण ही ऐसे हैं कि उनपरसे आसक्ति हट नहीं सकती ॥ १० ॥

इत्यादि वाक्यों से जीवन्मुक्तोंके लिए भी भगवद्भक्तिकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया गया है ।

इस प्रकार आगे कहे जानेवाले सम्पूर्ण अर्थोंका संग्रहरूप प्रथम कारिकाका विवरण समाप्त हुआ ॥ १ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे भक्तियोगके अत्यावश्यक होनेसे तत्प्रतिपादक इस ग्रन्थका नाम कहते हुए प्रयोजन बताते हैं संसार इत्यादि० ॥ अर्थ स्पष्ट है ॥२॥

भगवद्भक्तिकी, रसरूप होनेसे पुरुषार्थता सिद्ध करनेके लिए पहिले भक्तिका सामान्य लक्षण कहते हैं–द्रुतस्य० इत्यादिसे ।

द्रुतस्येति । भगवद्धर्मोऽत्र भगवद्गुणश्रवणम् । न तु धर्मबुद्ध्या तदनुष्ठानपर्यन्तं विवक्षितम् ।

तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्[1] ।

इत्यत्रापि केनाप्युपायेनेति धर्मबुद्धयाऽनुष्ठितेनायत्नसिद्धेन वा भगवद्गुणश्रवणेनेत्यर्थः । तेन शिशुपालादौ नाव्याप्तिः भगवद्गुणश्रवणेन वक्ष्यमाणकामक्रोधाद्युद्दीपनद्वारा द्रवावस्थां प्राप्तस्य चित्तस्य धारावाहिकी या सर्वेशविषया वृत्तिः । भगवदाकारतेत्यर्थः । तदाकारतैव हि सर्वत्र वृत्तिशब्दार्थोऽस्माकं दर्शने । सा भक्तिरित्यभिधीयते शास्त्रविद्भिः । तथा च शास्त्रम्—

✓मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।

यहाँ पर भगवद्धर्म पदसे भगवद्गुण-श्रवणमात्र ही लिया गया है "धर्मबुद्धि पूर्वक जो भगवद्गुण-श्रवणानुष्ठान" यह अर्थ नहीं विवक्षित है ।

"इसलिये किसी भी उपायसे मनको कृष्णमें लगावे ।"

इस वचनमें "किसी भी अन्य उपायसे अर्थात् धर्मबुद्धिसे अथवा बिना प्रयत्न के सिद्धि देनेवाले किसी भी प्रकारसे भगवद्गुणोंका श्रवण करनेसे" यही अर्थ अभिप्रेत है । इससे शिशुपाल आदिमें अव्याप्ति नहीं हुई ।

[लक्षणका किसी एक लक्ष्यमें घटित न होना अव्याप्ति कहलाती है । धर्मबुद्धि पूर्वक भगवद्गुण-श्रवण यदि भक्तिका लक्षण करेंगे तो शिशुपाल आदिमें वह लक्षण नही घटेगा क्योंकि उन्हें भी भगवत्प्राप्ति तो हो गयी थी किन्तु उनकी धर्मबुद्धि न थी प्रत्युत भगवान्में द्वेषबुद्धि थी । इसलिये 'भगवद्गुणश्रवणमात्रसे' यही लक्षण किया है]

भगवद्गुणश्रवण कहनेसे वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) कामक्रोधादि उद्दीपनों द्वारा द्रवावस्थाको प्राप्त चित्तकी धारावाहिकी जो सर्वेशविषयिणी वृत्ति वह भी भक्ति कहलायेगी । वृत्तिका अर्थ है भगवदाकारता अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जाना । हमारे इस भक्तिदर्शन (भक्तिशास्त्र) में सर्वत्र भगवदाकारता ही वृत्ति शब्दका अर्थ है । उसीको शास्त्राकारोंने भक्ति कहा हैं । जैसे कि शास्त्रमें कहा है—

जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है

---

1. भा० ७।१।२१

✓ चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम् ।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते ॥४॥

चित्त नामक द्रव्य स्वभावसे ही लाक्षा (लाह) की भाँति कठोर (ठोस) है किन्तु तापक विषयों का संयोग होनेपर वह द्रव अवस्थाको प्राप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्[1] ॥

अत्राविच्छिन्नेति धारावाहिकता दर्शिता । यथा गङ्गाम्भस इति दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिकेऽपि मनसि द्रवावस्था । मयि सर्वगुहाशये मनोवृत्तिरिति सर्वेशाकारता । तेनाद्रवावस्थायां धारावाहिक्यपि वृत्तिर्द्रवावस्थायामप्याशुविनाशिनी सा, द्रवत्वधारावाहिकत्वयुक्ताप्यसर्वेशविषया न भक्तिरित्युक्तम् ॥३॥

तदेव स्पष्टयितुं चित्तचेष्टितमाचष्टे—चित्तेति । जतुनो हि दहनात्मकतापकयोगमन्तरेण काठिन्यशान्तिर्न भवति, सौरालोकादियोगे तु

उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्र से मनकी वृत्तिका अविच्छिन्न रूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना ही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है ॥ ११-१२ ॥

यहाँ पर अविच्छिन्न कहनेसे धाराप्रवाह होना दिखाया है । "जैसे गङ्गाका जल" यह दृष्टान्त देनेसे मनकी भी द्रवरूपता अभिव्यक्त की है । ",मुझ सर्वान्तर्यामीमें" कहनेसे भगवान्‌की सर्वेश्वरता प्रकट की है । इस प्रकार भक्तिके उपर्युक्त मनोवृत्ति रूप होनेसे सर्वेशविषया और धारावाहिकी होने पर भी चित्तद्रुति न हुई तो वह भक्ति पूर्ण नहीं होगी । क्योंकि द्रवावस्था होते ही वह शीघ्र नष्ट हो जायगी । इसी प्रकार द्रवता और धारावाहिकता होनेपर भी यदि सर्वेशविषया न हुई तो वह भी पूर्ण भक्ति न होगी ।

[तात्पर्य यह है कि चित्तद्रुति, वृत्तिका धारावाहिक होना और सर्वेशविषयता ये तीनों होनेपर ही पूर्ण होगी, एक भी न्यून होनेपर नहीं] ॥ ३ ॥

चित्तद्रुतिघटित भक्ति-लक्षणको स्पष्ट करनेके लिए चित्तकी चेष्टाओंको कहते हैं—चित्त० इत्यादि ॥

जिस प्रकार स्वभाव से ही ठोस लाक्षा (लाह) का ठोसपन तीव्र अग्निके

---

१. भा० ३।२९।११-१२ ।

कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनन्तु तत् ॥५॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि चित्तरूप-लाक्षाके तापक हैं। इनके शान्त होनेपर वह फिर ज्योंका त्यों ठोस हो जाता है ॥५॥

शिथिलीभावमात्रं न द्रुतिरिति सर्वसिद्धम्। एवं चित्तस्यापि वक्ष्यमाणकामादिविषयात्मकतापकसंयोगं विना न द्रवीभावो, विषयमात्रसंयोगे तु शिथिलीभावमात्रमिति तापकपदोपादानेन सूचितम् ॥४॥

तानेव तापकानाह—कामेति। एषां प्रत्येकं लक्षणं भेदांश्च वक्ष्यति। यद्विषये कामादीनामुद्रेकस्तद्विषये चित्तस्य द्रवीभावः। पुनर्विषयान्तरसञ्चारादिना कामादितिरोभावे काठिन्यमेवेत्यर्थः ॥५॥

विना दूर नहीं होता (अर्थात् विना तीव्र अग्निसंयोगसे लाह गलकर द्रवित नहीं होती) घाम आदि साधारण तापमें रखनेसे केवल कुछ ढीली पड़ जाती है यह सभी जानते हैं। इसी प्रकार आगे कहे जानेवाले काम-क्रोधादि विषयरूप तापकों के संयोगके विना चित्त भी द्रवित नहीं होता। सामान्य विषयोंके संयोग मात्र से तो केवल चित्तमें शिथिलता ही आती है द्रवीभाव नहीं होता, यह तापक पदके ग्रहणसे सूचित होता है।

[जैसे स्त्री-पुत्रादि सांसारिक विषयोंमें आसक्ति होती है ऐसे ही भगवद्विषयक आसक्ति भी हुई, क्योंकि दोनोंमें ही चित्तद्रुति होती है। तो इनमें अन्तर ही क्या हुआ ? इस शंकाका समाधान इस कारिकाद्वारा किया गया है कि—भगवद्विषयक आसक्तिसे चित्त पूर्णरूपसे द्रवित हो जाता है किन्तु सांसारिक विषयोंसे सामान्य रूपसे उसमें शिथिलता मात्र आती है द्रवता नहीं। जैसे तीव्र अग्निके संयोगसे लाह पूर्णरूपसे गल जाती है किन्तु सामान्य घाममें रखने आदिसे वह केवल ढीली पड़ जाती है पूर्णरूपसे गलती नहीं] ॥ ४ ॥

उन तापकों को कहते हैं—काम० आदि से ॥

इनमें प्रत्येकका लक्षण आगे कहेंगे। जिस विषय (कामादि) में चित्त का उद्रेक अधिक होता है उस विषयमें तो चित्त द्रवीभूत होता है किन्तु उस उद्रेकके शान्त हो जाने और कामादिके समाप्त हो जानेपर

द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तस्वाकारो यस्तु वस्तुना ।
संस्कार-वासना-भाव-भावनाशब्दभागसौ ।।६ ।

द्रुत हुए चित्तमें वस्तुद्वारा ढाला गया जो उसका अपना स्वरूप है वही संस्कार, वासना, भाव अथवा भावना शब्द से कहा जाता है ।। ६ ।।

द्रवीभावप्रयोजनमाह—द्रुत इति । न तु विनश्यता ज्ञानेन जनितस्तार्किकादिपरिकल्पित आत्मगुण इत्यर्थः ।।६।।

फिर वह ठोस (पहिलेकी तरह ही) हो जाता है । [तात्पर्य यह है कि विषयाकारताको प्राप्त होकर द्रवीभूत हुआ चित्त स्थायी रूपसे द्रवित नहीं रह सकता क्योंकि विषयके समाप्त होते ही वह फिर अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हो जाता है किन्तु भगवदाकारताको प्राप्त हुआ चित्त सदा द्रवित रहता है । क्योंकि भगवदाकारता समाप्त होती ही नहीं] ।। ५ ।।

चित्तके द्रवित होनेसे क्या लाभ है, इसे बताते हैं—द्रुते० ।। नैयायिक आदिने नाशवान् ज्ञानसे उत्पन्न, जो आत्माका गुण है, उसे ही संस्कार आदि शब्दोंसे कहा है, वस्तुतः वह नहीं है ।

[नैयायिकोंके मतमें संस्कार आत्माका गुण है और ज्ञानसे उत्पन्न होता है । किन्तु ज्ञान स्वयं पहले क्षणमें उत्पन्न होता है दूसरे क्षणमें रहता है तीसरेमें नष्ट हो जाता है । ऐसे नाशवान् ज्ञानसे उत्पन्न संस्कार भी नाशवान् ही होगा । इसलिए नैयायिकोंद्वारा स्वीकृत लक्षण उचित नहीं । भक्ति दर्शनमें भगवद्गुणश्रवणसे चित्तद्रुतिजन्य संस्कार चिरस्थायी होता है । उसका कभी विनाश नहीं होता । इसी प्रकार बौद्धदर्शनमें पूर्व-पूर्व विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञानमें अपनी चित्तवृत्ति रूप वासनाएँ देता जाता है । चूँकि वह विज्ञान स्वयं क्षण-क्षणमें बदलता रहता है अतः तज्जन्य वासना भी स्थायी नहीं कही जा सकती । किन्तु भक्तिमें भगवद्विषयिणी वासना कभी बदलती नहीं अतः स्थायी है । मीमांसामें कर्म-प्रवर्तक विधिवाक्योंको ही भावना कहा है और ("भावना नाम भवितुर्भवनाकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः" कहकर) उसे क्रियारूप माना है । क्रिया अनित्य होती है । किन्तु भक्तिशास्त्रमें भगवद्विषयक भाव नित्य होता है । इसीको स्पष्ट करते हुए उपर्युक्त कारिकामें भावका प्रयोजन

शिथिलीभावमात्रन्तु मनो गच्छत्यतापकैः ।
न तत्र वस्तु विशति वासनात्वेन किञ्चन ॥७॥
द्रवतायां प्रविष्टं सद्यत् काठिन्यदशां गतम् ।
चेतः, पुनर्द्रुतौ सत्यामपि तन्नैव मुञ्चति ॥८॥

अतापकोंसे (जिनसे पूर्णरूपेण चित्तद्रुति नहीं होती ऐसे विषयोंसे) तो मन केवल कुछ शिथिलमात्र होता है । उसमें वासना रूपसे कोई भी वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

जैसे लाक्षा आदिकी द्रवावस्थामें मिलाया हुआ रङ्ग पुनः लाक्षाके ठोस होजानेपर भी ज्योंका त्यों मिला हुआ रहता है उसी प्रकार चित्तके द्रवित होनेपर वह जिस वस्तुमें आसक्त हो जाता है उसे फिर नहीं छोड़ता ॥८॥

नञीषदर्थः । अतापकैरीषत्तापकैः सौरालोकादिस्थानीयैर्विषयैर्योगे सति मनः किञ्चिदवयवविशरणमात्रं प्राप्नोति । अतश्शिथिलीभूते जतुनीव तादृशे मनसि न किञ्चिद्वस्तु वासनात्वेन विशति, किन्तु वासनावैलक्षण्येन तदाभासत्वेनैव विशतीत्यर्थः ॥७॥

चित्तद्रुतौ भवति वासना, शिथिलीभावे तु वासनाभास इत्यत्र विनिगमकमाह—द्रवतायामिति । द्रवावस्थाप्रविष्टहिङ्गुलादिरङ्गस्य

बताया है कि जिस प्रकार गली हुई लाहको जैसे सांचे में ढाला जायगा वैसी आकृति बन जायगी, उसी प्रकार पूर्णरूपसे द्रवित चित्त जब भगवदासक्त हो जायगा तो फिर वह रत्यादि अनेक भावोंमें परिणत भले ही हो जाय किन्तु नाश नहीं होता। इसीलिये भगवद्भावको भक्तिशास्त्रमें परिणामी और नित्य माना है] ॥ ६ ॥

(अतापकैः में) नञ् (अ-पद) ईषद् (थोड़ा) अर्थका वाचक है, सूर्यातपकी भाँति लाक्षाको अतापक अर्थात् थोड़ा-सा ताप देनेवाले विषयों-से संयोग होनेपर मन कुछ ही पिघलता है पूर्णरूपसे द्रव नहीं होता। इसलिए सामान्यतः ढीले लाहकी तरह ऐसे मनमें कोई भी वस्तु वासना रूपसे नहीं प्रवेश करती बल्कि वासनाभास (वासना जैसा प्रतीत होना वस्तुतः वासना न होना) होता है। क्योंकि भगवद्विषयक वासना विलक्षण होती है ॥ ७ ॥

जतुनः पुनः काठिन्यापनयनेन काष्ठादिसंयोगे जायमाने यथा स एव रङ्गः प्रतिभासते, शैथिल्यावस्थाप्रविष्टस्तु रङ्गो न तथा। एवं द्रवावस्थे चेतसि यद्वस्तुस्वरूपं प्रविष्टं सत् काठिन्यदशापर्यन्तं स्थितं तत् पुनर्द्रवीभावान्तरेण विषयान्तरे गृह्यमाणेऽपि प्रकाशमानत्वाच्चेतसा न त्यज्यते। अतस्सा वासनेत्युच्यते शैथिल्यावस्थाप्रविष्टन्तु काठिन्यावस्थापर्यन्तं न तिष्ठति, तिष्ठद्वा विषयान्तरग्रहणसमये चित्तेन त्यज्यत इति स वासनाभास इत्यर्थः। अत एव यस्यैकदा द्रुते चित्ते भगवदाकारता प्रविष्टा, स सर्वदा तद्भानात् कृतकृत्यो भवतीत्युक्तम्—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः[1]॥ इति॥

पूर्णचित्तद्रुति होनेपर वासना होती है और शिथिलीभाव (सामान्य द्रुति) होनेपर वासनाभास होता है, इन दोनोंमें अन्तर होता है इसे बताते हैं—द्रवतायाम्० इत्यादि से॥

पूर्णरूपसे द्रवित लाक्षामें हिङ्गुल (सिंगरफ) आदि, जैसा रंग मिलाया जाय वह लकड़ी आदिमें लगा देने या चूड़ी आदि आभूषण बनानेपर ठोस हो जानेपर भी वैसा ही रहता है निकलता नहीं, किन्तु सामान्य रूपसे ढीली हुई लाक्षामें मिलाया हुआ रंग वैसा पक्का नहीं होता शीघ्र ही निकल जाता है। इसी प्रकार पूर्णरूपसे द्रवित हुए चित्तमें जो भगवत्स्वरूप वस्तु प्रविष्ट होती है वह फिर द्रवीभाव न रहनेपर भी वैसी ही रहती है, दूसरे विषयोंके ग्रहण करनेपर भी वह नहीं निकलती। क्योंकि भगवत्स्वरूपसे चित्तमें ऐसा प्रकाश (ज्ञान) रहता है कि चित्त उसे छोड़ता नहीं। इसीलिए उसे वासना कहते हैं। शैथिल्यावस्था (सामान्य रूपसे द्रवित हुए चित्त) में प्रविष्ट हुआ कठिन (ठोस) होनेतक नहीं रहता, यदि रहा भी तो दूसरे विषयोंको ग्रहण करते समय चित्त उसे छोड़ देता है। इसलिये उसे वासनाभास (वासनावदाभासते = प्रतीयते) कहते हैं। इसीलिए "जिसके एक बार द्रवित हुए चित्तमें भगवदाकारताका प्रवेश हो गया वह सदा उसीकी प्रतीति होनेसे कृत-कृत्य हो जाता है" ऐसा कहा है।

---

१. भा० ११।२।४५।

सर्वभूतग्रहणसमयेऽपि द्रवावस्थाप्रविष्टभगवदाकारताया एव प्रकाशमानत्वाज्जतुरङ्गवत् सर्वभूतेषु भगवद्भानोपपत्तिः। स च भागवतोत्तमः, एतादृशसंस्कारस्याविनाशित्वादिति भावः। अत एव ब्रह्मविदेवैतादृश इत्यपास्तम्, तस्य ब्रह्मविदो द्रवावस्थाया अनपेक्षितत्वेनोत्तममध्यमप्राकृतभक्तेष्वगणनीयत्वात्। अत्र तु द्रवावस्थापरिपुष्टौ "सर्वभूतेषु यः पश्येद्" इत्यवस्थायां भागवतोत्तम उक्तः। ईषद्द्रवावस्थायतुान वासनाभासेन—

"जो सब प्राणियोंमें आत्माकी भगवद्-रूपसे स्थिति देखता है (अर्थात् सब प्राणियोंको भगवान्का ही स्वरूप समझता है) और भगवत्स्वरूप आत्मा में सब प्राणियोंको देखता है वह उत्तम भगवद्भक्त है ॥"

जैसे द्रवित अवस्थामें लाक्षामें प्रविष्ट हुआ रंग कठिन (ठोस) होनेपर भी वैसा ही दीखता है उसी प्रकार चित्त की द्रवावस्थामें प्रविष्ट भगवदाकारता सब प्राणियोंको देखते या ग्रहण करते समय भी वैसी ही रहती है। इसलिए सब प्राणियोंमें भगवत्स्वरूपकी ही प्रतीति जिसे होती है वही उत्तम भगवद्भक्त है। तात्पर्य यह है कि वह भगवद्भावका संस्कार (जो चित्त में प्रविष्ट हो गया) फिर कभी नाश होता ही नहीं।

अतएव "ब्रह्मविद् ही सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सर्वभूतोंको देखनेवाला हो सकता है" ऐसा जो कहते हैं उनका मत उपर्युक्त व्यवस्थासे परास्त हो जाता है। क्योंकि उस ब्रह्मवेत्ताके लिये चित्तकी द्रवावस्था आवश्यक नहीं है और बिना चित्तद्रुति हुए वह उत्तम, मध्यम या प्राकृत भक्तोंमें नहीं गिना जा सकता [ब्रह्मविद्या और भक्ति दोनों भिन्न-भिन्न हैं यह पहिले निरूपण कर चुके हैं] इस भक्तिशास्त्रमें तो पूर्ण द्रवावस्था होने पर "सब प्राणियोंमें भगवत्स्वरूपको जो देखता है" इस श्लोकमें कथित अवस्थामें श्रेष्ठ भागवत (भगवद्भक्त) कहाता है।

जब चित्तकी ईषद्द्रवावस्थामें (कुछ कम मात्रामें द्रवित हुए चित्तमें) भगवदाकारता प्रविष्ट हो तो वह पूर्णद्रुति न होनेसे वासना तो कही नहीं जा सकती, केवल वासनाभास होता है। इसलिये ऐसा भक्त जो—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः[1] ॥४६॥

इत्युक्तः, एतादृगवस्थावतोऽग्रे द्रवावस्थाया उत्पत्स्यमानत्वादित्यर्थः। यस्य तु चित्ते न द्रवावस्था पुष्टा, नापीषदुत्पन्ना, किन्तु स्वयं तदर्थं भागवतधर्माञ्छ्रद्धयाऽनुतिष्ठति, स काठिन्यावस्थाविनाशसामग्रीविशिष्टः—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः[2] ॥४७॥

इत्युक्तः। प्रकृतिरारम्भस्तस्यां वर्तमानः प्राकृतः। साम्प्रतं प्रारब्धभक्तिसाधनानुष्ठान इत्यर्थः। इयमेव च द्रवावस्था प्रणयानुरागस्नेहादिशब्दैरपि सङ्कीर्त्यते। यथा—

"ईश्वरमें प्रेम, उसके अधीनों (भगवद्भक्तों)में मैत्री, बालिशों (मूढ = जो भगवद्भक्त नहीं है किन्तु भागवत धर्ममें श्रद्धा रखते हैं) पर कृपा और भगवान्से द्वेष करनेवालोंमें उपेक्षा भाव रखता है वह मध्यम भक्त है।" इस कथन के अनुसार मध्यम श्रेणीका भक्त कहा गया है। क्योंकि ऐसी अवस्थावालेको आगे चलकर पूर्ण चित्तद्रुति हो सकती है।

जिसके चित्तमें द्रवावस्था न तो पुष्ट हुई और न कुछ मात्रा में उत्पन्न ही हुई किन्तु फिर भी उसके लिए प्रयत्न करता है और भागवत धर्मोंका श्रद्धासे अनुष्ठान करता है वह चित्तकी कठोरताको नष्ट करके उसे द्रवित करने की ओर प्रवृत्त हुआ प्राकृत भक्त कहलाता है—

जो केवल भगवान्की मूर्तिका श्रद्धासे पूजन करनेमें ही अपनेको धन्य समझता हैं, न तो भगवद्भक्तोंपर श्रद्धा करता है न किसी औरपर, वह प्राकृत भक्त कहा गया है ॥ ४७ ॥

प्रकृतिका अर्थ है आरम्भ (भगवद्भक्ति का), उसमें वर्तमान-लगा हुआ प्राकृत भक्त है। अर्थात् अभी-अभी जिसने भगवद्भक्तिकी साधनाका अनुष्ठान प्रारम्भ किया है।

यही चित्तकी द्रवावस्था प्रणय, अनुराग, स्नेह आदि शब्दोंसे कही जाती है। जैसे—

---

१. भा० ११।२।४६। २. भा० ११।२।४७।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः[1] ॥५४॥

प्रणयो द्रवावस्था स एव रशना रज्जुवद्बन्धनसाधनम्, तस्यां द्रवावस्थायां प्रविष्टस्य पुनर्निर्गमनाभावादित्यर्थः। द्रवावस्थाप्रविष्ट-भगवत्स्वरूपभानस्य त्रिविधत्वादुत्तमभागवतोऽपि त्रिविधः। तत्राद्यं प्रपञ्चसत्यत्वभानसहितं यथा--

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेश्शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः[2] ॥४१॥

इत्यादि। अनेन प्राकृतो भागवतोत्तमः। द्वितीयं प्रपञ्चमिथ्यात्वभानसहितं यथा--

पापपुञ्जका नाश करनेवाले साक्षात् भगवान् कृष्ण, अनजानमें अथवा विवश होकर नाम लेनेपर भी जिसके हृदयको नहीं छोड़ते और प्रेमरज्जुसे जिसने भगवान्‌के चरणकमलोंको बाँध लिया है वही भगवद्भक्तोंमें प्रधान कहलाता है ॥५४॥

प्रणय अर्थात् द्रवावस्था, वही रशना अर्थात् रस्सीकी तरह बाँधनेका साधन। क्योंकि चित्तकी द्रवावस्थामें प्रविष्ट हुआ भगवदाकार फिर चित्तसे निकलता नहीं, उसीमें बँध-सा जाता है यह तात्पर्य है।

द्रवावस्थामें प्रविष्ट भगवत्स्वरूपकी प्रतीति तीन प्रकारकी होती है इसलिये उत्तम (जो पहिले कहा गया है) भक्त भी तीन प्रकारका होता है। उनमें पहला वह है जो प्रपञ्च (जगत्) को सत्य (भगवत्स्वरूप) ही समझता है। जैसे—

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्षादि, नदियाँ, समुद्र आदि जो कुछ भी भूत (संसार) हो उसे भगवान्‌का ही विग्रह मानकर अनन्यभावसे प्रणाम करे ॥४१॥

इत्यादि। इससे प्राकृत भगवद्भक्तको दर्शाया है। दूसरा वह है जो इस प्रपञ्चको मिथ्या और केवल भगवान्‌को ही सत्य मानता है। जैसे—

---

१. भा० ११।२।५४ । २. भा० ११।२।४१ ।

स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते।
व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः ॥६॥

इसीलिये द्रुतचित्तमें स्थित वस्तुको स्थायिभाव शब्दसे कहा जाता है और फिर वही परमानन्दरूपसे व्यक्त होकर रसत्वको प्राप्त होता है ॥६॥

तस्मादिदञ्जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति[1] ॥२२॥

अनेन मध्यमो भागवतोत्तमः। तृतीयं प्रकारद्वयेनापि प्रपञ्च-भानरहितं यथा—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥१७॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयम्मुने[2] ॥१८॥

अनेनोत्तमो भागवतोत्तमः। निरन्तरसाधनाभ्यासपरिपाकेणोत्त-मभूमिलाभः ॥८॥

इसलिए यह सारा संसार असत् स्वरूप ही है, स्वप्नके समान है, इसमें धिषणा=बुद्धि अस्त हो जाती है अर्थात् अज्ञानमय हैं, अत्यन्त दुःखसे भरा है, नित्यसुखकी प्रतीतिस्वरूप अनन्त आपमें ही मायासे उत्पन्न होता हुआ भी यह सत् जैसा प्रतीत होता है ॥२२॥

इससे मध्यम श्रेष्ठ भगवद्भक्तको दर्शाया है। तीसरा वह है जिसे दोनों प्रकारसे (असत् या सत्रूपसे) प्रपञ्चका भान होता ही नहीं। जैसे—

भक्तिभावके वशीभूत चित्तसे भगवान्के चरणारविन्दका ध्यान करनेपर उत्कण्ठासे मेरी आँखोंसे आँसू निकले थे और धीरे-धीरे भगवान् मेरे हृदयमें प्रकट होने लगे ॥१७॥

भगवान्में अत्यन्त प्रेम होजानेसे पुलकित अङ्गोंवाला होकर सुखी और अति अगाध आनन्द-समुद्रमें लीन हुए मुझको हे मुने! अपने पराये का ज्ञान नहीं रहा।

---

१. भा० १०।१४।२२, २. भा० १।६।१७-१८

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ॥१०॥

परमानन्द स्वरूप भगवान् स्वयं ही द्रवावस्थाको प्राप्त हुए मनमें स्थित होकर स्थायीभावरूपसे पूर्ण रसताको प्राप्त होते हैं ॥१०॥

द्रवावस्थाप्रविष्टविषयाकारस्यानपायित्वे स्थायिशब्दोऽपि तत्र मुख्य एव न पारिभाषिक इत्याह—स्थायीति।

विभावानुभावव्यभिचारिसयोगेनाभिव्यक्तः स्थायिभाव एव सभ्याभिनेययोर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एव सन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोतीति रसविदां मर्यादा। तदुक्तमाचार्यभरतेन—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति। अतो भवतेरपि रसतां वक्तुं स्थायिभावो निरूप्यत इति भावः ॥९॥

इससे उत्तम भागवत कहा गया है, इस प्रकार निरन्तर साधना और अध्यासके परिपुष्ट होनेपर उत्तम भागवतकी श्रेणी मिलती है ॥८॥

चित्त द्रवीभावावस्था में प्रविष्ट विषयाकारता भी अविनाशी होती है इसलिये वहाँ भी स्थायी शब्द मुख्य-परक ही है पारिभाषिक नहीं, यह स्पष्ट करनेके लिये कहा है—स्थायी इत्यादि।

[अर्थात् रसशास्त्रमें प्रसिद्ध स्थायीभाव शब्दकी मुख्यार्थपरतया सिद्धि भी चित्तद्रवीभाव-फलक ही है यह दिखानेके लिये इस कारिकाको कहा गया है]

विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावोंके संयोगसे अभिव्यक्त स्थायीभाव ही सभासद और अभिनेयका अभेद हो जानेसे सभासदनिष्ठ हुआ ही परमानन्द साक्षात्कार रूपसे रसताको प्राप्त होता है, ऐसा रसवेत्ताओंने माना है।

["रसविदां मर्यादा" का अर्थ है रसशास्त्रकारोंद्वारा की हुई व्यवस्थारूप निरूढ़लक्षणाके बीजभूत अनादि तात्पर्यरूप सङ्केत। स्थायिभावमें ही इस पदकी मुख्य वृत्ति नहीं है अर्थात् स्थायिभाव ही रसपदसे नहीं कहा जाता "रसो वै सः" इत्यादि श्रुतिसे विरोध हो जायगा। यह विषय तीसरे उल्लासमें रसनिरूपण करते समय विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।]

इसलिये आचार्य भरतने कहा है—"विभाव, अनुभाव, संचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है" इसलिये भक्तिकी भी रसताका प्रतिपादन करनेके लिये स्थायीभावका निरूपण किया जाता है, यह तात्पर्य है ॥९॥

कान्तादिविषयेऽप्यस्ति कारणं सुखचिद्घनम् ।
कार्याकारतयाऽभानेऽप्यावृतं मायया स्वतः ॥११॥

कान्ता आदि लौकिक विषयोंमें भी रसकी प्रतीतिका कारण सुखस्वरूप चैतन्यघन ही है किन्तु तदाकारतामें अभेद होनेपर भी स्वतः सिद्ध मायाके आवरणसे वह ढका हुआ है ॥११॥

स्थायिभावस्य रसत्वोपपत्तये परमानन्दरूपतामुपपादयति—भगवानिति। बिम्बमेव ह्युपाधिनिष्ठत्वेन प्रतीयमानं प्रतिबिम्बमित्युच्यते। परमानन्दश्च भगवान् मनसि प्रतिबिम्बितस्थायिभावतामासाद्य रसतामासादयतीति भक्तिरसस्य परमानन्दरूपत्वं निर्विवादम्। नाप्यालम्बनविभावस्थायिभावयोरैक्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावेन भेदस्य व्यवहारसिद्धत्वादीशजीवयोरिव ॥१०॥

नन्वेवं भगवदाकारस्य परमानन्दरूपस्य स्थायिभावत्वेन भक्तिरसस्य परमानन्दरूपत्वमस्तु। कान्तादिविषयाणां तु शृङ्गारादि-

स्थायिभावकी रसत्वसिद्धिके लिये परमानन्दरूपताका उपपादन करते हैं—भगवान् ? आदि।

बिम्ब (मुख आदि) ही उपाधि (दर्पण आदि) में रहकर प्रतीत हुआ प्रतिबिम्ब कहलाता है। परमानन्दस्वरूप भगवान् (बिम्ब) मन (रूप उपाधि) में प्रतिबिम्बित स्थायिभावताको पाकरके रसताको प्राप्त होता है। इसलिये भक्तिरसकी परमानन्दरूपता निर्विवाद सिद्ध है।

[प्रश्न—] यदि कहें कि भगवान्को तो हमने आलम्बन विभाव माना है उसीको स्थायीभाव मानेंगे तो आलम्बन विभाव और स्थायीभाव दोनों एक हो जायेंगे ? [उत्तर—] नहीं, बिम्ब और प्रतिबिम्बभाव माननेसे दोनोंमें अन्तर व्यवहारसे सिद्ध है, जैसे कि वेदान्ती ईश्वर और जीवमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव मानते हैं।

[तात्पर्य यह है कि आलम्बन विभाव बिम्ब है और स्थायीभाव उसका प्रतिबिम्ब, इसलिये वे दोनों एक नहीं कहे जा सकते] ॥१०॥

[प्रश्न —] इस प्रकार परमानन्दस्वरूप भगवदाकार स्थायी भाव होनेसे भक्तिरसकी परमानन्द स्वरूपता भले ही हो किन्तु कान्तादि विषयक शृङ्गा-

रसानामतथात्वात् कथं परमानन्दरूपतेत्यत आह--कान्तादीति। "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दम्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति[१]" इत्यादिश्रुत्या हि परमानन्दरूपं ब्रह्म जगदुपादानमिति प्रतिपादितम्। 'जन्माद्यस्य यतः[२]' इति न्यायेन तथैव निर्णीतम्। उपादानाभिन्नश्च सर्वं कार्यं मृदभिन्नघटवत् सर्वत्र दृष्टम्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "इदं सर्वं यदयमात्मा[३]' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्[४]" इत्यादिच्छान्दोग्यादिश्रुतिभिश्च तथैव प्रतिपादितम्। तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति न्यायेन च निर्णीतम्। एवं

रादि लौकिक रसोंमें तो स्थायीभाव भगवदाकार नहीं होता तब उनमें परमानन्दरूपता कैसे मानी जाती है ? इसका समाधान करने के लिए कहते हैं—कान्तादि०।

"आनन्दसे ही ये सब भूत (चराचर) उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे उत्पन्न होकर ही जीवित रहते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं" इस तैत्तिरीय श्रुतिसे परमानन्दरूप ब्रह्मको ही जगत्का उपादान कारण प्रतिपादित किया गया है। "इस संसारका जन्म आदि (अर्थात् जन्म, स्थिति और लय) जिससे होता है" इस ब्रह्मसूत्रके न्यायसे भी यही निर्णय किया गया है, सम्पूर्ण कार्य अपने उपादान कारणसे अभिन्न ही देखे जाते हैं जैसे घड़ा मिट्टीसे भिन्न नहीं है। "यह सब जगत् ब्रह्म ही है" "यह सब वही है जो यह आत्मा है" "हे सौम्य ! यह सत् रूप ही पहिले था" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही प्रतिपादन किया गया है। "उसकी अनन्यता आरम्भण शब्दादिसे कही गई है" इस ब्रह्मसूत्रसे भी यही सिद्ध किया गया है। ऐसा होनेपर अखण्ड आनन्द और अद्वैतरूपसे वह प्रतीत नहीं होता तो इसमें कारण मायाके निमित्तभूत आवरण और विक्षेप हैं, यही बतानेके लिये कहा है—कार्याकारतया=अकार्य (जो कार्य नहीं है उस) का कार्यरूपसे भान होना विक्षेप कहलाता है और अखण्ड आनन्दरूपसे स्वतः प्रतीत होना आवरण कहलाता है [दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि जड़में चेतनकी सदृशताका भान विक्षेप है और चेतनका जड़रूपसे भान आवरण है]

---

१. तै० ३।६। २. ब्र० सू० १।१।२। ३. छा० ३।१५। ४. छा० ६।२।

सदज्ञातञ्च तद्ब्रह्म मेयङ्कान्तादिमानतः ।
मायावृतितिरोभावे वृत्त्या सत्त्वस्थया क्षणम् ।।१२।।

सत् (अबाधित) और अज्ञात वह ब्रह्म ही कान्तादि विषयक प्रमाणसे भी प्रमेय होता है, आवरणरूप मायाके तिरोभाव होनेपर क्षणमात्रमें उदित होनेवाली सात्त्विक वृत्तिसे अखण्ड चैतन्यका ग्रहण होता है ।।१२।।

सत्यत्यखण्डानन्दाद्वयाकारेण तदभाने हेतू मायानिमित्तावावरणविक्षेपावित्याह—कार्येति । अकार्यस्यापि कार्याकारेण भानं विक्षेपः । अखण्डानन्दाकारेण स्वतोऽभानमावरणम् । तदुक्तम्—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः[1] ।। इति ।।११।।

कथन्तर्हि तस्य भानमित्यत आह—सदिति । अज्ञातज्ञापकत्वेनैव हि सर्वेषां मानानां मानता, अन्यथा स्मृतेरपि मानतापत्तेः । अज्ञातञ्च

इसीलिये कहा है—

"वास्तवमें न होनेपर भी जो अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझमें ही प्रतीत होती है अथवा जो विद्यमान होने पर भी मुझमें प्रतीत नहीं होती उसे ही मेरी माया समझना चाहिये जैसे चन्द्रमा का घेरा और राहु।"

[तात्पर्य यह है कि दृष्टिदोषसे जैसे कभी आकाशमें चन्द्रमाकी ओर देखनेपर दो चन्द्रमा जैसे दिखाई देते हैं, उनमें एक तो वास्तवमें है किन्तु दूसरा न होने पर भी प्रतीत-सा होता है । इसी प्रकार राहु हैं, किन्तु नक्षत्रों-में दिखाई नहीं पड़ता । (यही चन्द्रका न होने पर भी होना और राहुका होनेपर भी न होना) माया है] ।।११।।

तब उस परमानन्द स्वरूप ब्रह्मका भान कैसे होगा ? [क्योंकि लौकिक रसके भी परमानन्दरूपत्वकी सिद्धिके लिये उसका भान आवश्यक है] इसलिये कहते हैं—सदज्ञातञ्च० ।

अज्ञातका ज्ञापक होनेसे ही सब प्रमाणोंका प्रामाण्य होता है । नहीं तो स्मृति (अनुभवजन्य ज्ञान) भी प्रमाण ही होने लगेगा । स्वयं प्रकाश होनेसे भासमान चैतन्य ही अज्ञात हो सकता है जड़ नहीं । क्योंकि जड़में किसी

---

१. भा० २।९।३३ ।

अतस्तदेव भावत्वं मनसि प्रतिपद्यते ।
किञ्च न्यूनाञ्च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात् ॥१३॥

[कान्ताद्यवच्छिन्न चैतन्य ही कान्तादि मानसे मेय हो सकता है] इसलिये द्रवीभूत चित्तमें ही उसका आविर्भाव होता है किन्तु जड़ताका संमिश्रण हो जानेसे उसमें रसत्व पूर्ण न होकर कुछ न्यून होता है ॥१३॥

स्वप्रकाशतया भासमानचैतन्यमेव न जडम्, तस्य भानाप्रसक्त्या तत्रावरणकृत्याभावात् । अतः कान्तादिगोचरमानानामज्ञातज्ञापकत्वेन प्रामाण्याय तत्तदवच्छिन्नचैतन्यमेव विषयो वाच्यः, अन्यथा तदयोगात् । तथा च सात्त्विक्या प्रमाणजनितापरोक्षवृत्त्याऽऽवरणतिरोभावे सति तत्तद्विषयावच्छिन्नत्वेन भासते । वस्तुतः परमानन्दरूप विषयोपादान-चैतन्यम् । अनवच्छिन्नस्वरूपाभानाच्च न सद्योमुक्तिः स्वप्रकाश-त्वभङ्गो वा ॥१२॥

प्रकारका आवरण है ही नहीं, इसलिये उनके भान का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः (अर्थात् जड़के अज्ञात न हो सकनेके कारण) कान्तादिविषयक प्रमाणोंके अज्ञात-ज्ञापकतया प्रामाण्यके लिये उन-उन प्रमाणोंसे अवच्छिन्न चैतन्य ही विषय कहा जायगा नहीं तो उनमें प्रामाण्य नहीं होगा । इस प्रकार [तत्तदवच्छिन्न चैतन्य की ही कान्तादि विषयक प्रमाणविषयता कहनेपर] सात्त्विकी प्रमाणजन्य अपरोक्षवृत्तिसे आवरण हट जाने पर तत्तद् विषयावच्छिन्न रूपसे वास्तवमें परमानन्दरूप विषयोपादान चैतन्यका भान है ।

[तात्पर्य यह है कि जो अज्ञातका ज्ञापक होता है वह प्रमाण है । कान्तादि जड़ वस्तुओंमें जड़त्व तो प्रमाणान्तरसे ज्ञात ही है इसलिये उसके ग्रहणमें कोई रसास्वादन नहीं होसकता, अतः सद्वस्तु चैतन्य ही अज्ञात है और अज्ञात होनेसे वही प्रकाश्य भी है ।]

[यदि कहें कि कान्तादि प्रमाणसे भान होनेपर चैतन्यमें स्वप्रकाशत्व नहीं रह जायगा और प्रमाताकी तत्काल मुक्ति हो जायगी ? इसपर कहते हैं—] अनवच्छिन्न स्वरूपका भान न होनेसे सद्योमुक्ति नहीं होगी और स्वप्रकाशत्व (दूसरे प्रकाशककी अपेक्षा किये विना प्रकाशमान होना) भी भङ्ग नहीं होगा ॥१२॥

इति वेदान्तसिद्धान्ते स्थायिनो रसतोदिता ।
साङ्ख्यसिद्धान्तमाश्रित्याप्यधुना प्रतिपाद्यते ॥१४॥

इस प्रकार वेदान्त-सिद्धान्तानुसार स्थायीभावकी रसताका प्रतिपादन किया । अब सांख्य मतके अनुसार उसका प्रतिपादन किया जाता है ॥१४॥

तमोरजस्सत्त्वगुणा मोहदुःखसुखात्मकाः ।
तन्मयी प्रकृतिर्हेतुः सर्वकार्यञ्च तन्मयम् ॥१५॥

तमस् रजस् और सत्त्व ये गुण हैं और ये क्रमसे मोह, दुःख और सुख स्वरूप हैं (अर्थात् तमोगुण-मोहात्मक, रजोगुण-दुःखात्मक और सत्त्वगुण-सुखात्मक है)। यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही सम्पूर्ण कार्यकी उपादानकारण है और यह सारा कार्य प्रकृतिस्वरूप ही है ॥१५॥

ततः किमत आह—अत इति । विषयावच्छिन्नचैतन्यमेव द्रवावस्थमनोवृत्त्यारूढतया भावत्वं प्राप्य रसतां प्राप्नोतीति न लौकिकरसस्यापि परमानन्दरूपत्वानुपपत्तिः । अत एवानवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणाद्भक्तिरसेऽत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य । लौकिकरसे तु विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणात्तत्रानन्दस्य न्यूनतैव । तस्माद्भक्तिरस एव लौकिकरसानुपेक्ष्य सेव्य इत्यर्थः ॥१३॥

प्रतिपाद्यत इति । स्थायिना रसतेत्यनुषङ्गः ॥१४॥

एतावदेवोपपादयितुं व्युत्पादयति—तमोरजस्सत्त्वेति । तथा

इससे क्या हुआ ? इसपर कहते हैं—अत० । विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रवीभूत हुई मनोवृत्तिमें आरूढ़ होनेसे भाव होकर रसत्वको प्राप्त होता हैं । इसलिये लौकिकरसके भी परमानन्दरूप होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । अन्तर केवल इतना ही है कि अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान्‌की ही प्रतीति होनेसे भक्तिरसमें आनन्द अत्यधिक होता है किन्तु लौकिक रसमें विषयावच्छिन्न चिदानन्दका ही स्फुरण होता है इसलिये उसमें आनन्द कम रहता है । अतः आनन्दका आधिक्य होनेसे लौकिक रसोंको छोड़कर भक्तिरसका ही सेवन करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥१३॥

स्थायीभावकी रसताका प्रतिपादन किया जाता है यह तात्पर्य है ॥१४॥

साङ्ख्यसिद्धान्तके अनुसार स्थायीभावकी रसता सिद्ध करनेके लिये

हि साङ्ख्या एवमाचक्षते—सर्वे भावास्सुखदुःखमोहात्मकसामान्यप्रकृतिकाः, सुखदुःखमोहात्मकत्वेन प्रतीयमानत्वात्। ये यदात्मकत्वेन प्रतीयन्ते ते तदात्मकसामान्यप्रकृतिकाः। यथा मृदात्मकतया प्रतीयमाना मृत्सामान्यप्रकृतिका घटशरावादयः। अनुगतकारणातिरिक्तसामान्यानभ्युपगमान्न घटत्वादिना व्यभिचारः। सुखदुःखमोहात्मकत्वेन चैते प्रतीयन्ते। तस्मात्तत्सामान्यप्रकृतिका इत्यनुमानेन सुखदुःखमोहात्मकप्रकृतिसिद्धिः। तत्र यत् सुखं तत् सत्त्वम्, यद्दुःखं तद्रजो, यो मोहो विषादः स तम इति तस्यास्त्रिगुणात्मकत्वसिद्धिः।

ही पहिले सांख्य सिद्धान्तको समझाते हैं—तमोरजः०। जैसे कि सांख्याचार्यों-का कथन है—

[प्रतिज्ञा-] सम्पूर्ण भावों (विद्यमान पदार्थों) की सुख-दुःख मोहात्मिका एक ही सामान्य प्रकृति (उपादान कारण) है। [हेतु-] क्योंकि वे सब सुखदुःखमोहात्मक ही प्रतीत होते हैं। [उदाहरण—] जो जिस स्वरूपसे प्रतीत होते हैं उनकी तदात्मक ही सामान्य प्रकृति होती है जैसे मिट्टीसे बने (मृदात्मक प्रतीयमान) घट-शराव (सकोरा) आदिकी, मिट्टी ही सामान्य प्रकृति (अनुगत उपादान कारण) है। (यदि कहैं कि—) घटत्व भी तो कारण हो सकता है (उत्तर देते हैं—नहीं) अनुगत कारण (कपालादि) से अतिरिक्त सामान्य घटत्वादि) कारण नहीं माने जा सकते, इसलिये घटत्व आदिसे उपर्युक्त व्याप्तिमें कोई दोष (व्यभिचार) नहीं आता। [उपनय-—] चूंकि सुख दुःख मोहस्वरूप ही ये (भाव) प्रतीत होते हैं। [निगमन—] अतः सुखदुःखमोहात्मक ही इनकी प्रकृति (उपादान कारण) है। इस अनुमानसे सुखदुःखमोहात्मक प्रकृति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकृतिमें जो सुख है वह सत्त्वगुण है, जो दुःख है वह रजोगुण है और जो मोह है वह तमोगुण है। इस प्रकार प्रकृति त्रिगुणात्मिका हैं, यह सिद्ध हो गया।

[भेदवादी नैयायिक परमाणुको ही जगत्का उपादान कारण मानते है और वेदान्ती ब्रह्मको ही जगतका उपादान कारण कहते हैं। इनका मत है कि जैसे मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्यके प्रति चैतन्य प्रधानता होनेसे

न च परमाणुभिर्ब्रह्मणा चार्थान्तरता, परमाणुवादे कार्यकारणयोर्भेदाभ्युपगमेन तेषामतीन्द्रियत्वेन च तदात्मकतया कस्यापि कार्यस्य प्रतीयमानत्वाभावात् परमाणुषु प्रमाणाभावाच्च। सर्गाद्यकालीनकार्योपादानानुमानस्य लाघवतर्कसहकारेणैकोपादानविषयकत्वात्, क्षित्यादिकर्त्रनुमानस्यैककर्तृविषयकत्ववत्। ब्रह्मवादिनां कार्यकारणयोरभेदाभ्युपगमेऽपि न जगतो ब्रह्मात्मना प्रतीयमानत्वं सम्भवति, ब्रह्मणस्सर्वलौकिकमानागोचरत्वाभ्युपगमात्। सद्रूपेण ब्रह्मापि सर्वप्रमाणगोचरः। तथा च तदात्मना कार्यस्य प्रतीयमानत्वमस्त्येवेति

निमित्त कारण है और अपने शरीरकी प्रधानताके कारण उपादान कारण भी है] उसी प्रकार अज्ञानोपहित आत्मा चैतन्य-प्रधानताके कारण संसारका निमित्त कारण है और अज्ञान-प्रधानताके कारण उपादानकारण है। क्योंकि जगत् माया (अज्ञान) जन्य है (अर्थात् माया ही जगत्का उपादान कारण है) किन्तु माया आत्मनिष्ठ है अतः परम्परया आत्मा भी जगत्का उपादान कारण है।]

[प्रश्न—] जिस प्रकार आप (सांख्यवाले) सुखदुःखमोहात्मिका प्रकृतिको कार्यका कारण मानते हैं ऐसे ही परमाणु और ब्रह्म भी तो माने जा सकते हैं। इस प्रकार साध्यमें अर्थान्तरता आ जायगी ? [उत्तर] नहीं, कार्य और कारणमें अभेद माना जाता है यदि परमाणुको कारण मानेंगे तो परमाणु अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे प्रतीत न होनेवाला) है इसलिए तदात्मक कोई भी कार्य प्रत्यक्ष या प्रतीयमान नहीं होगा और परमाणुओंकी सत्तामें कोई प्रमाण भी नहीं है। सृष्टिके प्रारम्भकालमें कर्ता एक था या अनेक, इस प्रश्नपर यदि परमाणु कारण मानें तो परमाणु अनेक हैं किन्तु लाघव एकको माननेमें ही होगा जैसे कि पृथिव्यादिका कर्ता एक ईश्वर माना जाता है, परन्तु अनेकत्वबाधक युक्ति तार्किक नहीं दे सकते। ब्रह्मको कारण मानें तब भी कार्यकारणका अभेद माननेपर जगत्की ब्रह्मरूपसे प्रतीति हो सकती है किन्तु "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" आदि वाक्योंके अनुसार ब्रह्म समग्र लौकिक प्रमाणोंसे अगोचर माना जाता है अतः प्रतीति कैसे होगी ? यदि कहें कि सत् रूपसे ब्रह्म भी सब प्रमाणोंसे गोचर है इसलिये

त्रिगुणात्मकमेकैकं वस्तु त्र्याकारमीक्ष्यते ।
निजमानससङ्कल्पभेदेन पुरुषैस्त्रिभिः ॥१६॥

तीन व्यक्ति सुख-दुःख-मोहात्मक प्रत्येक वस्तुको ही अपने मानसिक संकल्पके भेदसे तीन रूपोंमें देखते हैं ॥१६॥

चेत्, किमनेनाकाण्डताण्डवेन ? ब्रह्मणो निस्सामान्यविशेषत्वेन नानारूपासम्भव इति साङ्ख्यसङ्ख्यावतामभिमानः ॥१५॥

ननु भवतामप्यसिद्धो हेतुः, सुखदुःखमोहानामान्तराणां बाह्यघटादितादात्म्यासम्भवात् । सम्भवे वा सर्वं वस्तु सर्वं प्रमातारं प्रति त्र्याकारतया प्रथेतेत्यत आह—त्रिगुणेति । न तावदान्तरबाह्ययोस्तादात्म्यसम्भवः, बाह्यानामेव मनःप्रतिबिम्बितत्वेनाऽऽन्तरत्वात् । नापि सर्वान् प्रति तुल्यभानप्रसङ्गः, तत्तद्वासनारूपसहकारिभेदात् ॥१६॥

ब्रह्मरूप कार्यका भी प्रत्यक्ष हो सकता है ? यह बेसुरा राग अलापनेसे लाभ क्या, जैसे मिट्टी या सुवर्ण आदि एक सामान्य रूप है और उससे बननेवाले घड़ा या कटक-कुण्डलादि विशेष रूप, ऐसे ही मूल प्रकृति एक सामान्य रूप है और कार्य विशेषरूप । किन्तु ब्रह्म तो न सामान्य है न विशेष, इसलिये उसके नाना रूप होना ही असम्भव है । अतः सांख्य मतके विद्वानोंको अपने मतपर गर्व है और नैयायिक या वेदान्तीके मतानुसार स्वीकृत परमाणु या ब्रह्म कारण नहीं माने जा सकते । त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही कारण हो सकती है ॥१५॥

[शंका—] आपके (साङ्ख्यवालोंके) मतसे भी तो हेतु असिद्ध है क्योंकि सुख दुःख मोह तो आन्तर पदार्थ हैं उनका बाह्य घट-पटादि पदार्थोंसे संबंध कैसे होगा ? यदि किसी प्रकार हुआ भी तो सब वस्तुएँ सब प्रमाताओंको तीन रूपसे ही दीखेंगी ? इसका उत्तर देते हैं—त्रिगुण० ।

आन्तर और बाह्य पदार्थोंका तादात्म्य असम्भव नहीं है क्योंकि बाह्य पदार्थ ही मनमें प्रतिबिम्बित होनेसे आन्तर हो जाते हैं । सब पदार्थ सबको समान रूपसे प्रतीत हों ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तत्तद् वासनारूप सहकारी कारण सबके भिन्न-भिन्न हैं ॥ १६ ॥

कामिन्यास्सुखता भर्त्रा, सपत्न्या दुःखरूपता ।
तदलाभात्तथाऽन्येन मोहत्वमनुभूयते ॥१७॥

जैसे एक ही कामिनीसे उसके पतिको सात्त्विक सुखकी प्रतीति, सपत्नीको राजस् दुःखकी प्रतीति और उसको न पा सकनेवाले खलनायकको तामस मोहकी प्रतीति होती है ॥ १७ ॥

एवं सति सुखाकारः प्रविष्टो मानसे यदा ।
तदा स स्थायिभावत्वं प्रतिपद्य रसो भवेत् ॥१८॥

प्रत्येक वस्तु सुखदुःखमोहात्मक है इसलिये सुखरूप से जब वह द्रवीभूत चित्तमें प्रविष्ट होती है तब वह (चित्त) स्थायीभावताको प्राप्त होकर रसरूपमें परिणत हो जाता है ॥ १८ ॥

एतदेवोदाहरति—कामिन्या इति । भर्तारं प्रति हि कामिन्यास्सत्वांश एवोद्रिच्यते । सपत्नीं प्रति तु रजोंश एव । तां कामयमानमन्यश्च तामविन्दन्तं प्रति तमोंश एव । अतः क्रमेण तेषु सुखदुःखविषादाः प्रादुर्भवन्त्यतो व्यवस्थोपपत्तिः । वासनाभेदेनैकस्मिन्नपि भानभेदो भट्टाचार्यैरप्युक्तः—

परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ ।
कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पनाः ॥इति॥१७॥

फलितमाह—**एवं सतीति** । क्रोधादिभावस्यापि रजस्तमोमिश्रित-

यही उदाहरणसे सिद्ध करते हैं—कामिन्या० । पतिके प्रति कामिनीका सत्त्वांश ही उद्रिक्त होता है और सपत्नीके प्रति रजोंश ही । इसी प्रकार उसको चाहते हुए किन्तु प्रयत्न करके भी न पा सकनेवाले अन्य व्यक्तिके प्रति तामस अंश ही उद्रिक्त होता है । इसलिये उनमें क्रमसे सुख, दुःख और मोहका प्रादुर्भाव होता है, इस प्रकार व्यवस्था सिद्ध है । वासनाभेदसे एक ही वस्तुमें भिन्न रूपसे प्रतीति होना कुमारिलभट्टने भी कहा है—

एक ही रमणीके रमणीय शरीरमें संन्यासी, कामुक और कुत्तेकी मुर्दा, कामिनी और खानेका पदार्थ; यह तीन प्रकारकी कल्पनाएँ होती हैं । अर्थात् संन्यासी उसे मुर्देकी तरह समझकर उससे घृणा करता है, कामी उसे उपभोगका साधन मानकर उससे प्रसन्न होता है और कुत्ता भोजन समझकर उसमें दाँत गड़ाये रहता है ॥ १७ ॥

परमाण्वेकरूपन्तु चित्तं न विषयाकृति ।
इत्यादि मतमन्येषामप्रामाण्यादुपेक्षितम् ॥१६॥

"मन परमाणु रूप, एक तथा नित्य है इसलिये वह विभिन्न विषयाकार-में परिणत नहीं हो सकता" इत्यादि अन्य लोगों (तार्किकों, प्राभाकरों और बौद्धों) का मत अप्रामाणिक होनेसे उपेक्षणीय है ।। १६ ।।

सत्त्वोद्रेकनिबन्धनचित्तद्रुतिफलितत्वात् सुखमयत्वमित्यभिप्रायः । द्रवीभावस्य सत्त्वधर्मत्वात्तं विना च स्थायिभावासम्भवात् सत्त्वगुणस्य च सुखमयत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंशमिश्रणात्तारतम्यमवगन्तव्यम् । अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः । उपरिष्टाच्च स्पष्टीकरिष्यते ॥१८॥

अत्राहुस्तार्किकाः––नित्यं निरवयवमणुपरिमाणं मनः । तस्य कथं सावयवजतुदृष्टान्तेन द्रवीभावद्वारा विषयाकारपरिणामो वक्तुं शक्यते ? न हि निरवयवस्य ह्रासवृद्धी सम्भवतः । तस्मादुक्तस्थायिभावनिरूपणमसङ्गतमिति । तत्राह––**परमेति** । आदिशब्दाद्विभु मन इति प्राभाकराणां, समनन्तरप्रत्यय एवोत्तरज्ञानकारणतया मन इति सौगतानाञ्च मतं संगृहीतम् ।

सारे विवाद का परिणाम कहते हैं––एवं सति० ॥

क्रोधादि भाव भी रजस्तमोगुणसे मिश्रित सत्वके उद्रेकसे चित्तद्रुतिकारक होते हैं इसलिये वे भी सुखमय ही हैं । क्योंकि चित्तका द्रवीभाव सत्त्वका ही धर्म है, उसके विना स्थायीभाव असम्भव है और सत्त्वगुण सुखमय होता है इसलिये क्रोधादि सभी भाव सुखमय ही होवे हैं किन्तु फिर भी रजस् और तमस्का मिश्रण हो जानेसे उनमें तारतम्य हो जाता है । यही कारण है कि सब रसोंमें समान रूपसे सुखका अनुभव नहीं होता । इसे आगे स्पष्ट करेंगे ।। १८ ।।

इस विषयमें तार्किकोंका कहना है––मन नित्य, निरवयव और अणु परिमाणवाला है, उसका सावयव जतु (लाक्षा) के दृष्टान्तसे द्रवीभाव द्वारा विषयरूपमें परिणत होना कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि जो निरवयव है उसका ह्रास होना या वृद्धि होना सम्भव नहीं । इसलिये पूर्वोक्त स्थायीभावका निरूपण ही असंगत है । इसपर कहते हैं—परमाण्वेक० ।

अयं भावः—करणत्वात् परश्वादिवदिन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवन्मनसो मध्यमपरिमाणत्वमनुमीयते । न चाणुत्वानुमाने किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । नापि नित्येन्द्रियत्वाच्छ्रोत्रवद्विभुत्वानुमानम्, नित्यत्वस्यासिद्धत्वात् । आकाशस्यापि नित्यत्वाभावेन तत्कार्यश्रोत्रस्य सुतरां नित्यत्वाभावाच्च । अत एव जन्यस्य विभुत्वाभावान्मध्यमपरिमाणत्वानुमानस्य श्रोत्रे न व्यभिचारः । यदिन्द्रियं यद्गुणग्राहकं, तदिन्द्रियं तद्गुणवद्भूतारब्धमिति व्याप्तेर्यथा चक्षुरादेस्स्वग्राह्यगुणवद्भूतारभ्यत्वं साध्यते तथा मनसोऽपि पञ्चमहाभूतगुणग्राहकत्वेन स्वग्राह्यगुणवत्पञ्चभूतारभ्यत्वं साध्यताम्, विशेषाभावात् । न च विजातीयानामनारम्भकत्वं

'इत्यादि' पदसे मनको विभु (व्यापक) माननेवाले प्राभाकरों (पूर्व मीमांसाका एक सम्प्रदाय) तथा "प्रत्येक उत्तरज्ञानके प्रति पूर्वज्ञान कारण होता है अतः उस कारणताका ज्ञान कराने वाला मन नित्य है" यह माननेवाले बौद्धोंका मत लिया गया है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे "परशुसे काटता है" इसमें परशु करण (साधन) है उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मनकी प्रेरणासे ही अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं, अतः उनके प्रति परशुकी भाँति वह भी करण है और चक्षु आदिकी भाँति इन्द्रिय भी है, इसलिये उसे न तो विभु कहा जा सकता है और न अणु ही । अनुमानतः प्रतीत होता है कि वह मध्यम परिमाणवाला है । क्योंकि मनको अणु माननेके लिये कोई हेतु नहीं है । [इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं-नित्य और अनित्य, मन भी इन्द्रिय है अतः] नित्य श्रोत्रादिकी तरह इसे भी विभु मान लें, यह उचित नहीं क्योंकि मनमें नित्यत्व सिद्ध नहीं होता । आकाश भी नित्य नहीं है इसलिये तज्जन्य श्रोत्र भी अवश्य ही अनित्य होगा । कोई भी जन्य (कार्य) विभु नहीं होता इसलिये श्रोत्रको भी मध्यम परिमाण ही माननेपर इसमें कोई व्यभिचार (दोष) नहीं आता । जो इन्द्रिय जिस गुणको ग्रहण करती है उस उस इन्द्रियका उस उस गुणवाले भूत (पृथिव्यादि) से आरम्भ होता है, यह व्याप्ति है । इसलिये जैसे चक्षु आदि इन्द्रियोंका स्वग्राह्य गुणवाले भूतों से आरम्भ किया जाना सिद्ध किया जाता है ऐसे ही मन भी पंचमहाभूतोंके गुण ग्रहण करता है अतः उसका भी स्वग्राह्य गुणोंवाले पंचभूतों से आरम्भ होना सिद्ध करना चाहिये । दोनोंमें कोई विभेदक विशेष तो है नहीं ।

विशेषः, सुवर्णसूत्रैः पट्टसूत्रैः कार्पाससूत्रैश्च विजातीयैरेकपटारम्भ-दर्शनात्। तत्रावयव्यनङ्गीकारेऽन्यत्रापि तथानङ्गीकारसम्भवादवयविनो दत्तजलाञ्जलिताप्रसङ्गात् । तस्मादपञ्चीकृतपञ्चभूतारब्धं सत्त्वप्रधानं सङ्कोचविकासशीलं स्वच्छद्रव्यं चक्षुर्वन्मूर्तद्रव्याभिघातयोग्यञ्च देहपरिमाणं मनोऽभ्युपगन्तव्यम्, सिद्धान्ते सुखदुःखेच्छाज्ञानादीनां तदाश्रयत्वाभ्युपगमात्तेषाञ्च सर्वशरीरव्यापित्वेनोपलम्भात्तदाश्रयस्य मनसोऽपि सर्वशरीरव्यापित्वात् । अणुत्वाभावे युगपत् सर्वेन्द्रियसम्बन्धसम्भवाद्युगपन्नाज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग इति चेन्न, एकेनेन्द्रियेणैकदैकमेव ज्ञानं जन्यत इति नियमस्तावदावयोस्समः । अन्यथा युगपच्चाक्षुषज्ञानद्वयोत्पत्तिः किन्न स्यात् ? नानेन्द्रियजन्यज्ञानानान्तु युगपदुत्पत्तिरिष्यत एव,

यदि कहें कि इन्द्रियाँ तो अपने सजातीय एक ही महाभूतसे उत्पन्न होती हैं किन्तु मन तो विजातीय पांच महाभूतों से उत्पन्न होता है, यही उसका वैशिष्ट्य है ? तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सोनेके तार, रेशमके सूत और कपासके तागे, इन परस्पर विजातीय द्रव्योंसे भी एक वस्त्र बनता है ऐसा लोकमें देखा जाता है। तो यहाँ भी विजातीय द्रव्योंका अनारम्भकत्व कोई विशेष नहीं हो सकता ।

[शंका—तार, रेशम और सूत से जो पट बनेगा उसे समुदाय कहा जा सकता है, अवयवी नहीं ? उत्तर—] यदि उसे अवयवी न मानेंगे तो जहाँ-जहाँ भी अवयव एकत्र होंगे वहाँ समुदाय ही कहायेगा, अवयवी कहीं होगा ही नहीं, इसलिये अपञ्चीकृत महाभूतोंसे आरम्भ होनेवाला (अर्थात् उनका कार्यरूप) सत्वगुण प्रधान, सङ्कोचविकाश स्वभाववाला, स्वच्छ द्रव्य चक्षु आदिकी तरह मूर्तिमान् द्रव्योंके अभिघात योग्य देहके ही परिमाण वाला मनको समझना चाहिये। क्योंकि सुख दुःख इच्छा ज्ञान आदि मनके ही आश्रित रहते हैं ऐसा सिद्धान्त है और वे सुख दुःखादि सम्पूर्ण शरीर-व्यापी पाये जाते हैं इसलिये उनका आश्रय मन भी सर्वशरीरव्यापी ही होगा ।

[शंका—] यदि मनको अणु न मानें तो एकसाथ ही सब इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होनेसे एक साथ ही सब ज्ञान होने लगेंगे ?

[समाधान—] नहीं—एक इन्द्रियसे एक समयमें एक ही ज्ञान होता है

गृह्णाति विषयाकारं मनो विषययोगतः ।
इति वेदान्तिभिस्साङ्ख्यैरपि सम्यङ्निरूपितम् ।।२०।।

विषयोंके सम्बन्धसे मन विषयोंके आकारको ग्रहण करता है । इस सिद्धान्तका वेदान्तियों और सांख्यविदोंने अच्छी प्रकार निरूपण किया है ।।२०।।

दीर्घां शष्कुलीं भक्षयतश्शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां युगपदनुभवात् । सुषुप्त्यन्यथानुपपत्त्या त्वङ्मनस्संयोगस्य ज्ञानमात्रे कारणत्वेन त्वयाभ्युपगमाद्रसनावच्छिन्नत्वक्संयुक्तस्य गुडस्य युगपद्रसस्पर्शोपलम्भस्तवापि दुर्निवारः । तस्मान्नास्मदभ्युपगते मनसि श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धे विमतिः सम्भवति । समनन्तरप्रत्ययस्त्वतिनिर्युक्तिकत्वादुपेक्षितः । विस्तरस्त्वस्मदीयवेदान्तकल्पलतायामनुसन्धेयः ।।१९।।

अतः स्वच्छस्वभावस्य सावयवस्य मनसो दर्पणादिवद्विषयाकारग्राहकत्वं वेदान्तशास्त्रे साङ्ख्यशास्त्रे च यन्निरूपितं, तत् प्रामाणिक-

यही नियम तो हमदोनों (नैयायिक और वेदान्ती) का समान ही है । नही तो चाक्षुष दो ज्ञान एक ही क्षणमें क्यों नहीं होते । भिन्न-भिन्न इन्द्रियजन्य ज्ञानोंकी एक साथ उत्पत्ति तो होती ही है उसमें हमें क्या आपत्ति हो सकती है । किसी वड़ी जलेबी को खाते हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचोंका एक साथ अनुभव होता ही है, सुषुप्तिसे भिन्न अवस्थामें त्वचा और मनके संयोगका ज्ञानमात्रके प्रति कारण होना तुम (नैयायिक) भी मानते ही हो। जिह्वामें रखे हुए गुड़मे, त्वचा और मनका संयाग होकर एक साथ रस और स्पर्शकी प्राप्ति, तुम भी नहीं रोक सकते । इसलिये हमने जो मनका स्वरूप निश्चित किया है उसमें श्रुति और स्मृतियोंके प्रमाणों से सिद्ध होनेसे किसीकी विमति नहींहो सकती । समनन्तर प्रतीति तो अत्यन्त निर्युक्तिक होनेसे उपेक्षणीय है । इस विषयको हमने (मधुसूदन सरस्वतीने) वेदान्तकल्पलतिकामें विस्तारसे वर्णन किया है. जिज्ञासुओंको वहाँ देखना चाहिये ।।१९।।

अतः [पूर्वोक्त तार्किक, बौद्ध और प्राभाकरोंके मत अप्रामाणिक होनेसे] स्वभावतः स्वच्छ और सावयव पदार्थ दर्पण जैसे प्रतिबिम्बको ग्रहण करता है उसी प्रकार स्वभावतः स्वच्छ और सावयव मनका विषयके स्वरूपको ग्रहण करना वेदान्त और सांख्य शास्त्रोंमें जो निरूपित किया गया है वह प्रामाणिक होनेसे समीचीन ही है । यह कहते हैं—गृह्णाति० से ।

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं दृश्यते तथा ।
घटादि व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं जायते ध्रुवम् ॥२१॥

मूषा (सोना आदि गलानेकी घरिया) में गलाया हुआ तांबा जिस सांचेमें डाला जाय वैसा ही दीखने लगता है वैसे ही वासनावृत्तिसे घटादिके आकारमें व्याप्त हुआ चित्त घटादिके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥२१॥

त्वात् समीचीनमेवेत्याह—गृह्णातीति । यद्यपि साङ्ख्यानामाहङ्कारिकं मनः ब्रह्मवादिनान्तु मते भौतिकमिति महान् विशेषस्तथापि विषयाकारग्राहकत्वं समानमिति तुल्यवदुभयोरुपन्यासः ॥२०॥

द्रवीभावपूर्वकश्चित्तस्य विषयाकारभजनमित्यत्र भाष्यकारवचनमुदाहरति— मूषेति । मूषा = पुटपाकयन्त्रम् । तद्द्वारा द्रवीभूतं ताम्रं यत्र प्रतिमाद्याकारघटितोदरे मृदादिसंस्थानविशेषे सिक्तं भवति, तत्तदुदरस्थसंस्थानाकारं भवति द्रुतत्वात् । एव रागद्वेषादिना द्रवीभूतं चित्तं चक्षुरादिद्वारा यत्र सिक्तं भवति स्वयमपि तद्विषयाकारं भवतीति कारिकार्थः । यद्यप्यस्मिन् वाक्ये सामान्यत एव द्रवीभाव उक्तस्तथाप्यनुभवबलाद्रागद्वेषादिविषये व्यवस्थाप्यते, तदभावे तु शिथिलीभावमात्रमित्युक्तमधस्तात् ॥२१॥

यद्यपि सांख्यशास्त्रमें मनको अहंकारजन्य माना है और वेदान्तमें आकाशादि अपञ्चीकृत भूतोंके सात्विक अंशसे उसकी उत्पत्ति कही है, यह दोनोंमें महान् अन्तर है, फिर भी विषयाकार-ग्राहकता मनकी दोनोंने मानी है अतः दोनोंका समान रूपसे ग्रहण किया गया है ॥ २० ॥

द्रवीभाव पूर्वक चित्तके विषयाकारको धारण करनेके विषयमें भाष्यकारका वचन प्रमाणरूपमें उद्धृत करते हैं— मूषासिक्तं० । मूषा—उस यंत्रको कहते हैं जिसमें सोना आदि गलाया जाता है । उस मूषा द्वारा गलाये हुए तांबेको, प्रतिमा आदिका आकार जिसके भीतर बना है ऐसे मिट्टी आदिसे बने जिस विशेष सांचेमें डाला जाता है वह तांबा आदि द्रव होनेसे उसी सांचेके अन्दर बनी प्रतिमादिके आकारमें हो जाता है । इसी प्रकार रागद्वेषादिसे द्रवीभूतचित्त चक्षु आदि द्वारा जिस विषयमें लगाया जाता है स्वयं भी उसी आकारका हो जाता है । यही इस कारिकाका अर्थ है ।

यद्यपि इस वाक्यमें सामान्य रूपसे द्रवीभाव ही कहा गया है फिर भी

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥२२॥
भगवत्पूज्यपादानामियमुक्तिस्सयुक्तिका ।
तथा वार्तिककारैरप्ययमर्थो निरूपितः ॥२३॥

जिस प्रकार व्यञ्जक (दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला) आलोक (सूर्यका प्रकाश) व्यङ्ग्य (प्रकाश्यवस्तु) के आकारको ग्रहण करता है उसी प्रकार सम्पूर्ण अर्थोंकी व्यञ्जक होनेसे बुद्धि भी अर्थ (वस्तु) स्वरूप ही दिखाई देती है ॥२२॥

भगवत् पूज्यपाद (श्री शंकराचार्य) की यह उक्ति (व्यञ्जको वा०) युक्तिपूर्ण है और वार्तिककार (श्री सुरेश्वराचाचार्य) ने भी इसी अर्थका निरूपण किया है ॥२३॥

मनो विषयाकारम् , विषयगतावरणनिवर्तकत्वादालोकवदित्यनुमानमस्मिन्नर्थे प्रमाणमाह–व्यञ्जको वेति। व्यञ्जकस्य तदाकारत्वाभावे तद्गतावरणनिवृत्तेरदर्शनादित्यर्थः ॥२२॥

भगवदिति । व्यञ्जको वेत्याद्युक्तिर्वार्तिककाराणामपि । युक्तिरनुमानरूपा दर्शिता ॥२३॥

अनुभवसे देखा जाता है कि रागद्वेषादिसे भी चित्त द्रवित होता है, इसलिये "रागद्वेषादिसे द्रवित चित्त" ऐसा अर्थ किया गया है । रागादि न होनेपर वा उसमें काठिन्य ही रहता है अथवा सामान्यरूपसे वह शिथिल (ढीलामात्र) होता है ऐसा पीछेकी कारिकाओंमें कहा जा चुका है ॥२१॥

"मन विषयाकार होता है, क्योंकि वह विषयगत आवरणको हटा देता है, जैसे आलोक" यह अनुमान इस अर्थमें प्रमाण है, यही कहते हैं—व्यञ्जको वा० इस कारिकासे ।

[आलोकसंयोग—प्रत्यक्षका असाधारण कारण है] यदि व्यञ्जक आलोकका वस्त्वाकार होना न मानेंगे तो वस्तुगत आवरणकी निवृत्ति नहीं होगी । [आवरणभंग ही वृत्तिमात्रका मुख्य प्रयोजन है] ॥ २२ ॥

"व्यञ्जको वा०" इत्यादि कथन वार्तिककार सुरेश्वराचार्यका भी है। युक्ति अनुमान रूपसे (पञ्चावयववाक्यादिसे) सिद्ध करके दिखाई है ॥२३॥

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसङ्गतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥२४॥

माता (सचेतन अन्तःकरण) से मान (अचेतन वृत्तिरूप ज्ञान) की निष्पत्ति होती है और वह निष्पन्न होकर मेय (घटादि विषय) को प्राप्त होता है । और फिर मेय (घटादि वस्तु) से मिला हुआ वह मान (वृत्तिरूप ज्ञान) ही मेयाभता (घटाद्याकारता) को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

वार्तिककाराणां वाक्यान्तरमुदाहरति—मातुरिति । मातुश्चिदचिद्ग्रन्थिरूपात् सचित्कादन्तःकरणात् वृत्तिज्ञानाख्यस्य द्रवीभावपूर्वकस्य मानशब्दवाच्यस्य परिणामविशेषस्याभिनिष्पत्तिर्भवति । तच्च परिणामविशेषात्मकं मानं निष्पन्नं सच्चक्षुरादिद्वारा घटादिविषयपर्यन्तं गच्छति शरीरावच्छिन्नमन्तःकरणमत्यजदेव कुल्याजलवत् । तच्च घटादिसम्बद्धं सद्घटाद्याकारतां प्राप्नोति । ततश्च तत्र चैतन्याभिव्यक्त्या घटाद्युपलम्भ इति कारिकार्थः । सर्वा चेयं प्रक्रियाऽस्माभिर्विस्तरेण सिद्धान्तबिन्दौ प्रतिपादिता ॥२४॥

वार्तिककारके दूसरे वाक्यको उद्धृत करते हैं—मातुः० से । माता अर्थात् चिद्-अचिद् ग्रन्थिरूप सचेतन अन्तःकरणसे द्रवीभावपूर्वक मान शब्दसे विख्यात अचेतन वृत्तिरूप ज्ञान नामका एक विशेष परिणाम उत्पन्न होता है । वही उत्पन्न हुआ परिणामविशेषात्मक मान चक्षु आदिके द्वारा घटादि विषयोंतक पहुँचता है, किन्तु जिस शरीरावच्छिन्न अन्तःकरणसे वह उत्पन्न हुआ उसे छोड़ता नहीं अर्थात् उसमें रमता हुआ विषयोंतक पहुँचता है । जैसे नदीका जल कुल्या (गूल—छोटी सी नहर) द्वारा खेतमें पहुँचता है किन्तु नदीसे भी संबद्ध रहता है और खेतमें पहुँचनेपर खेतके आकारमें दीखता है, वैसे ही घटादि विषयोंसे सम्बद्ध हुआ वह वृत्तिरूप ज्ञान भी तदाकार ही हो जाता है । इसके बाद उसमें चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेसे घटादिकी प्रतीति होती है, यही कारिकाका अर्थ है । इस सारी प्रक्रियाका हमने (मधुसूदन सरस्वतीने) विस्तारपूर्वक सिद्धान्तबिन्दु नामक ग्रन्थमें प्रतिपादन किया है ॥२४॥

एवमेतादृशं वाक्यमुदाहार्यमनेकशः ।
चित्तस्य विषयाकारग्राहकत्वोपपादने ॥२५॥
अतो मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यतेऽत्र मनोमयी ॥२६॥
भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।
जामाता श्वशुरः पुत्रः पितेत्यादि पुमानपि ॥२७॥

इस प्रकार चित्तकी विषयाकारताका उपपादन करनेवाले ऐसे वाक्य अनेकों कहे जा सकते हैं ॥२५॥

अतः (मनके द्वारा द्रवीभावपूर्वक विषयाकार ग्रहण करनेसे) मांसमयी स्त्री भिन्न है और मनोमयी भिन्न । मांसमयीसे अभेद होनेपर भी मनोमयी भिन्न ही होती है ॥२६॥

एक ही स्त्री (मांसमयी) पत्नी, पुत्रवधू, ननद, याता (जेठानी या देवरानी), माता आदि अनेक रूपमें व्यवहृत होती है इसी प्रकार एक ही पुरुष जामाता, श्वसुर, पुत्र, पिता आदि अनेक रूपसे व्यवहृत होता है ॥२७॥

एवमिति । ग्रन्थगौरवभयान्नोदाह्रियत इति भावः ॥२५॥

पञ्चदश्यां विद्यारण्यपादैरप्ययमर्थो दर्शितः । तमुपसंहारव्याजेनाह-अतो मांसमयीति । मनोमय्याकारभेदं विनैकस्मिन् भौतिके पिण्डे भेदप्रत्ययायोगादित्यर्थः ॥२६॥

भेदप्रतीतिमेव सर्वसिद्धामुदाहरति-भार्येति । भिद्यत इत्यनुषङ्गः॥२७।

एवम्०—ग्रन्थ अत्यन्त बढ़ जायगा इसलिये अधिक उदाहरण नहीं दिये हैं, यह तात्पर्य है ॥२५॥

पञ्चदशीमें विद्यारण्य स्वामीने भी यही अर्थ दिखाया है। उसीको उपर्युक्त विषयका उपसंहार करनेके बहाने कहते हैं—अतो० । मनोमयीके साथ आकार भेदके बिना एकही भौतिक पिण्डमें भेदका व्यवहार होता है ।

[मन स्थूल पदार्थोंके अतिरिक्त सूक्ष्म सृष्टिकी भी कल्पना करता है, ज्ञान, संस्कार, देश, काल आदि भेदसे एक ही स्त्रीके विषयमें वह अनेक आकारोंकी कल्पना करता है] ॥२६॥

इन दोनोंमें भेदकी प्रतीति सबमें प्रसिद्ध है, इसीका उदाहरण देते हैं—भार्या० । भिन्न होती है यह अन्वय है ।

वाह्यपिण्डस्य नाशेऽपि तिष्ठत्येव मनोमयः ।
अतः "स्थायी" ति विद्वद्भिरयमेव निरूपितः ।।२८।।

भौतिक बाह्यपिण्डका नाश होनेपर भी मनोमय सूक्ष्म पिण्ड रहता ही है वह नष्ट नहीं होता । इसीलिये विद्वानोंने स्थायीभाव रूपमें इसीका निरूपण किया है ।।२८।।

एकानेकत्ववैधर्म्यमुक्त्वा विनाशित्वाविनाशित्ववैधर्म्यान्तरमाह—बाह्येति । मनोमयोऽव्यवहित एवेत्यर्थः ।।२८।।

[एकही स्त्री किसीकी पत्नी होती है तो वही किसीकी पुत्रवधू, किसीकी ननद, याता अथवा माता आदि भी होती है अर्थात् उसके भौतिक मांसपिण्ड-मय स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता किन्तु मानसिक कल्पना (संस्कार आदि) में भेद हो जाता है । इसी प्रकार एक ही पुरुषका भौतिक मांसपिण्ड मनोमय सृष्टिकी भिन्नतासे किसीका जामाता है तो वही किसीका श्वसुर, किसीका पिता और किसीका पुत्र आदि होता है । स्वरूप वही होने पर भी उसके विषयमें मनकी कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं । इसीलिये कहा है—मांसमयी वही रहनेपर भी संस्कार आदि वशात् मनोमयी भिन्न हो जाती है अर्थात् मन उसको भिन्न-भिन्न आकारमें देखता है ।।२७।।

[जो मांसमय पिण्ड एक है उसीके विषयमें मनोमय संस्कार अनेक (भिन्न-भिन्न) होते हैं इस प्रकार दोनोंका] एकत्व और अनेकत्व वैधर्म्य कहकर अब विनाशित्व और अविनाशित्व रूप दूसरे वैधर्म्यको कहते हैं—

"नाशेऽपि" में अपि शब्दसे बाह्य वस्तुका देशकाल आदिसे व्यवधान होनेपर भी मनोमय व्यवधान रहित ही रहता है, यह तात्पर्य है ।

[बाह्य पिण्डका नाश (अभाव) होनेपर भी मनोमय पिण्ड रहता ही है, (यह एक अर्थ है) और वाह्यपिण्डका लोप न होकर केवल उसमें देशकाल आदिका व्यवधान होनेपर भी वह (मनोमय) व्यवधान रहित ही रहता है—उसमें व्यवधान नहीं होता । अपिशब्द समुच्चयार्थक होनेसे ये दो अर्थ हो जाते हैं यह भाव है] ।। २८ ।।

एवं सामान्यतो भावस्वरूपमुपदर्शितम् ।
विशेषेण तु सर्वेषां लक्षणं वक्ष्यते पृथक् ।।२६।।
भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम् ।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं, किमन्यदवशिष्यते ।।३०।।

इस प्रकार सामान्यरूपसे (स्थायी) भावका स्वरूप दिखा दिया है, विशेष रूपसे सबका लक्षण अलग-अलग आगे कहा जायगा ।।२६।।

विभु (सर्वदेशव्यापक), नित्य (सर्वकालव्यापक), पूर्ण (अद्वितीयक) ज्ञान और सुखस्वरूप भगवान्‌को जो द्रवीभूत चित्त ग्रहण कर लेता है उसके लिये ग्रहण करनेको अन्य क्या शेष रह जाता है? अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है ।।३०।।

मनोमयो विषयाकार एवाविनाशित्वात् स्थायिभाव इति कथितम्, तस्य तु रतिहासादिरूपेण भेदस्तल्लक्षणञ्च वक्ष्यतेऽनन्तरोल्लास इत्यर्थः ।।२६।।

यस्माद्द्रुतचित्तप्रविष्टो विषयाकारोऽनपायी, तस्मादित्याह—भगवन्तमित्यादि । विभुमिति सर्वदेशव्यापकत्वं, नित्यमिति सर्वकाल-व्यापकत्वं, पूर्णमित्यद्वितीयतया सर्वद्वैतभ्रमाधिष्ठानत्वं, बोधसुखात्म-कमिति निरतिशयपुमर्थत्वं दर्शितम् । एतादृशेन भगवदाकारेण मनो-गतेनानादिकालप्रविष्टासङ्ख्यविषयाकाराणां कवलीकरणात्तन्मा-त्रपरिस्फूर्त्या कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ।।३०।।

मनोमय विषयका स्वरूप ही अविनाशी होनेसे स्थायीभाव है यह कहा जा चुका है। उस स्थायीभावके रति, हास, आदि भेद और उनके लक्षण दूसरे उल्लासमें कहेंगे, यह भाव है ।। २६ ।।

विभु कहनेसे भगवान्‌का सब स्थानोंमें व्यापक होना, नित्य से तीनों कालोंमें व्यापक होना, पूर्णसे अद्वितीय होनेके कारण सम्पूर्ण द्वैतरूप भ्रमका अधिष्ठान होना और बोधसुखात्मकसे निरतिशय पुरुषार्थका विषय होना दिखाया है। ऐसे भगवान्‌का आकार जब द्रवीभूत चित्तमें प्रविष्ट हो जाता है तो अनादिकालसे चित्तमें प्रविष्ट हुए असङ्ख्य विषयोंके सारे स्वरूपोंको निगल जाता है (इसके आगे वे टिक नहीं सकते, नष्ट हो जाते हैं) केवल

कठिना शिथिला वा धीर्न गृह्णाति न वास्यते ।
उपेक्षाज्ञानमित्याहुस्तद्बुधाः प्रस्तरादिषु ॥३१॥

कठिन (कठोर—जिसमें द्रुति होनेके लक्षण ही नहीं दीखते) बुद्धि तो भगवदाकारको ग्रहण ही नहीं करती और शिथिल (जिसमें कठिनता तो नहीं है किन्तु थोड़ा सा ढीलीमात्र हुई है पूर्ण द्रवित नहीं, ऐसी) बुद्धिमें गृहीत हुआ भी भगवदाकार स्थायी नहीं रह सकता । इसलिये विद्वानोंने पत्थर आदिमें उपेक्षा ज्ञान माना है ।

[न्याय वार्तिकमें ज्ञानके तीन भेद कहे हैं—स्मृति, अनुभव और उपेक्षा । उपेक्षाज्ञान वह है जिससे न तो सुख उत्पन्न करनेवाला राग ही अन्तकरणमें होता है और न दुःख उत्पन्न करनेवाला द्वेष ही । जैसे राह चलते बटोहीको मार्गमें दीखनेवाले पत्थरोंसे न तो सुख ही होता है न दुःख ही, इसलिये वह उनकी ओर ध्यान ही नहीं देता और उनकी उपेक्षा कर देता है । इसीप्रकार चित्तकी कठिनावस्थामें भक्तिका ग्रहण ही नहीं होता, शिथिलावस्थामें ग्रहण होनेपर भी स्थायी नहीं रहता । अतः ये दोनों अवस्थाएं उपेक्षणीय हैं । स्तम्भस्वेदादिमें चित्तमें पूर्ण द्रवता लानेकी चेष्टा करनी चाहिये यह तात्पर्य है] ॥३१॥

द्रवीभावस्य प्रयोजनं पूर्वोक्तमेव स्मारयति तत्र प्रयत्नदार्ढ्याय—**कठिनेति**। कठिना धीर्न गृह्णात्येव। शिथिला तु गृह्णात्यपि न वास्यते, द्रवीभावाभावादितः पूर्वमेवोक्तम्। ईषदप्यद्रवीभावः काठिन्यमीषद्-

उसी भगवत्स्वरूपका स्फुरण होता है जिससे मानव कृतकृत्य हो जाता है । यह अर्थ है ।

[जब सूर्यका प्रकाश हो गया तब तारोंकी टिमटिमाहट कैसे रह सकती है इसी प्रकार विभु, नित्य, पूर्ण और अविनाशी सुखस्वरूप भगवदाकारके प्रविष्ट होनेपर सीमित देश और कालमें रहनेवाले अपूर्ण क्षणिक सुखदेनेवाले विषय कैसे ठहर सकते हैं, यह भाव है] ॥ ३० ॥

पहिले कहे हुए द्रवीभाव के प्रयोजनको दृढ़ करने के लिये पुनः स्मरण कराते हैं—कठिना० से । कठिन बुद्धि भगवदाकारताको किंचित् भी ग्रहण ही नहीं कर सकती और शिथिल हुई, ग्रहण करनेपर भी स्थायी नहीं रख सकती, क्योंकि उसमें पूर्ण द्रवीभाव नहीं होता, यह पहिले कह चुके हैं । कुछ

द्रवत्वं शैथिल्यम् । तच्च द्रवावस्थाकार्यभूतसात्त्विकभावाभावाद-वसेयम् । ते च—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ।।इत्यभिहिताः ।

भी द्रवीभाव न होना काठिन्य कहलाता है और थोड़ा-सा द्रवीभाव होना शैथिल्य । ये अवस्थाएँ पूर्ण द्रवावस्थाके कार्यभूत सात्त्विकभाव न होनेसे समझनी चाहिये । वे सात्त्विकभाव—¹स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय, ये आठ माने गये हैं ।

---

१. स्तम्भ आदिके लक्षण इस प्रकार हैं—

स्तम्भ—"स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातः" भय हर्ष आदिके द्वारा देहका निष्क्रिय हो जाना और मनोगतिका अवरुद्ध हो जाना स्तम्भ कहलाता है, जैसे कि शकटासुरवधके समय टूटे शकटके नीचे कृष्णको देखकर यशोदा स्तब्ध हो गई थी ।

स्वेद—"वपुर्जलोद्गमः स्वेदः" रति, श्रम आदिके कारण शरीरसे निकलनेवाले पसीनेको स्वेद कहते हैं ।

रोमाञ्च—"हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रियः"—हर्ष, आश्चर्य, भय आदिके कारण रोंगटे खड़े हो जाना रोमाञ्च कहलाता है । जैसे गोपियाँ पृथ्वीसे कहती हैं "हे पृथ्वी तुमने कौन सी तपस्या की है जो कि भगवान्के चरणारविन्दका स्पर्श पाकर तुम तृण-लता रूप रोमाञ्च से शोभित हो रही हो (केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकितांगरुहैर्विभासि) (भा० १०।३०।१०) ।

स्वरभङ्ग—" वैस्वर्यं गद्गदं विदुः" रसकी उत्कट अवस्थामें अथवा मनोगत प्रेमको प्रकट करते हुए गला भर आना और वाणीका रुकजाना स्वरभङ्ग कहाता है ।

वेपथु—"कम्पो गात्रस्य वेपथुः" हर्ष विस्मय आदिके कारण शरीरमें सिहरन होना वेपथु है ।

वैवर्ण्य—"वर्णान्यत्वं विवर्णता" हर्ष भयादिसे रूपकी विकृति—कृशता मलिनता आदि वैवर्ण्य है ।

अश्रु—"अश्रु नेत्रोद्भवं वारि" हर्ष, क्रोध, विस्मय आदिके कारण आँखोंसे निकलनेवाला जल अश्रु (आँसू) कहलाता है ।

अत एव भगवद्विषये काठिन्यं निन्द्यते—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः[१] ॥२॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः[२] ॥२३॥

भक्त्या विना कथमाशयः शुध्येत्, भक्तिश्च द्रवता चेतसा विना कथं स्यात्, द्रवच्चित्तञ्च कथं रोमहर्षं विनाऽऽनन्दाश्रु च विना ज्ञायेतेत्यर्थः। अश्रुपुलकयोरभिधानं स्तम्भस्वेदादीनामप्युपलक्षणम्। यतो द्रवत्वाभावे चित्तं न वास्यते, अतो बुधाः = पण्डिताः कामक्रोधाद्यनास्पदीभूतपाषाणादिज्ञानमुपेक्षाज्ञानसंस्काराजनकमित्याहुः। तथा चाहुर्न्यायवार्तिककृतः—"यन्न सुखसाधनं न दुःखसाधनं, तदेवोपेक्षणीयम्" इति । सुखसाधने रागः संस्कारहेतुर्दुःखसाधने द्वेषस्तथा,

इसलिये भगवद्विषयमें चित्तकी कठोरताकी निन्दा की जाती है—

"निश्चय ही वह ऐसा हृदय पत्थरके समान है जिसमें भगवान्‌के नामोका कीर्तन करने पर आंखोंमें आंसू और रोमोंका पुलकित होना रूप विकारों से विकृति नहीं होती ।" और "विना रोमांच हुए, बिना चित्तके द्रवीभाव हुए विना आनन्दके आँसू निकले" भक्तिके बिना हृदय कैसे शुद्ध हो, भक्ति बिना चित्तद्रुति के कैसे हो और चित्तका द्रवीभाव बिना रोमांच हुए तथा बिना आनन्दाश्रुप्रवाहके कैसे समझा जाय" यह तात्पर्य हैं। आँसू और रोमहर्षके ग्रहण से स्तम्भ-स्वेदादि शेषका भी ग्रहण समझना चाहिये । चूंकि द्रवता न होनेपर चित्तमें स्थायीभाव नहीं हो सकता इसलिये बुध अर्थात् पण्डित काम-क्रोधादिके विषय जो नहीं हैं ऐसे पाषाण आदिके ज्ञानको उपेक्षा ज्ञान कहते हैं। जैसा कि न्यायवार्तिककारने कहा हैं—"जो न सुखका साधन है और न दुःखका साधन है उसकी उपेक्षा करनी चाहिये ।" क्योंकि जो सुखका

प्रलय—"प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टा ज्ञाननिराकृतिः" अत्यन्त सुख या दुःखके कारण चेष्टा और ज्ञानका नष्ट हो जाना प्रलय कहलाता है (स्तम्भमें) केवल चेष्टानाश होता है ज्ञानका नहीं, प्रलयमें ज्ञान भी नहीं रहता, यह अन्तर है) ।

१. भा० २।३।२ । २. भा० ११।१४।२३ ।

काठिन्यं विषये कुर्याद्द्रवत्वं भगवत्पदे ।
उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः ॥३२॥

अतः बुद्धिमान्को चाहिये कि वह भक्तिशास्त्रमें बताये गये उपायोंके द्वारा विषयों (लौकिक) में अपने चित्तको कठिन करता हुआ भगवद्भावमें प्रतिक्षण उसे द्रवित करे ॥३२॥

तदुभयाभावे तु चित्ते द्रवत्वाभावान्न जायते संस्कार इत्यर्थः । एतावान् हि सर्वेषां शास्त्राणां रहस्यभूतोऽर्थो यद्विषयाकारतानिराकरणपूर्वकं चित्तस्य भगवदाकारतासम्पादनम्, सर्वेषामपि शास्त्राणामत्रैव व्यापारभेदेन पर्यवसानात् ॥३१॥

नन्वनादिकालद्रवच्चित्तप्रविष्टतत्तदिष्टानिष्टविषयकोटिसङ्कीर्णता चित्तस्य स्वभावभूता शीततेव तोयस्योष्णतेव दहनस्य सञ्चरिष्णुतेव पवनस्य कथं निवर्ततां, धर्मिणि सति स्वभावोपमर्दासम्भवादित्यत आह—काठिन्यमिति ।

विषयाकारता हि न चित्तस्य स्वभावभूता, तस्या आगन्तुकहेतुजन्य-

साधन है उसमें अनुराग होनेसे वह रागके संस्कारको उत्पन्न करता है और जो दुःखका साधन है वह द्वेषके संस्कार उत्पन्न करता है । जो न सुखसाधन है न दुःखसाधन उससे चित्तमें किसी प्रकारकी द्रवता आ ही नहीं सकती इसलिये उससे कोई भी संस्कार नहीं होता । इतना ही सम्पूर्णशास्त्रोंका रहस्यभूत प्रयोजन है कि विषयाकारताको हटाकर चित्तमें भगवदाकारताका संपादन किया जाय । सभी शास्त्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे इसी एक निर्णयपर पहुँचते हैं ॥३१॥

जैसे शीतल होना जलका, उष्ण होना अग्निका और संचरणशील होना वायुका स्वाभाविक धर्म है वैसे ही अनादिकालसे द्रवीभूत चित्तमें प्रविष्ट हुए प्रिय-अप्रिय करोड़ों विषयोंसे व्याप्त होना चित्तका भी स्वाभाविक धर्म हो गया है । वह कैसे छूटेगा ? क्योंकि धर्मीका जबतक अस्तित्व है तबतक धर्मका लोप नहीं हो सकता ? इस पर कहते हैं—काठिन्यं० ॥

विषयाकार हो जाना चित्तका स्वाभाविक धर्म नहीं है । क्योंकि वह विषयाकारता जिन कारणों से होती है वे सब आगन्तुक (क्षणिक) होने

त्वात्। तथा हि—स्थूलविषयाकारताहेतुरिन्द्रियसन्निकर्षादिर्जागरणे, सूक्ष्मविषयाकारताहेतुर्मनोगतवासना स्वप्ने, तदुभयाभावे तु सुषुप्तिवन्निर्विषयमेव चित्तं भवति। सुषुप्तौ चित्तलयाभिधानन्तु निर्विषयकत्वाभिप्रायकमेव। एतच्च भगवता सूत्रकारेणैव प्रदर्शितम्—'तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात्'[१] अपीतिर्लयः। मर्यादायामाङ्। अपीतिं=लयं मर्यादीकृत्य, तस्य मनसो लयात् पूर्वकाले संसारव्यपदेशः, न तु तल्लये सतीति सूत्रार्थः। तथा च सुषुप्तावपि पुनरुत्थानेन संसारव्यपदेशस्य सत्त्वान्न मनोलयः। विवरणकाराणान्तु "केयं सूक्ष्मता नाम" इत्यादिना यन्मनोलयाभिधानं, तत् परमताभिप्रायेण न तु स्वमतानुसारेण, सूत्रविरोधात् इति भावः।

हैं। जैसे कि जागृत अवस्थामें इन्द्रियोंके सन्निकर्षादिसे स्थूल विषयोंका ग्रहण होता है इसलिये स्थूल विषयाकारता होती है। स्वप्नमें स्थूल विषयोंसे इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं होता केवल मनोगत वासना रह जाती है इसलिये सूक्ष्म विषयाकारता होती है। किन्तु सुषुप्तिमें ये दोनों (इन्द्रियसन्निकर्ष और मनोगत वासना) नहीं रह जाती इसलिये चित्त निर्विषय हो जाता है, किसी प्रकारकी विषयाकारता उसमें नहीं रहती। "सुषुप्तिमें चित्तका लय हो जाता है" ऐसा जो शास्त्रकारोंने कहा है उसका यही तात्पर्य है कि उस अवस्थामें वह किसी प्रकारके विषयोंको ग्रहण नहीं करता। इसीको भगवान् सूत्रकार (ब्रह्मसूत्रकार भगवान् बादरायण) ने दिखाया है—

"उस (मन) का अपीति (लय) होने तक ही संसारका व्यपदेश होता है।" अपीतिका अर्थ है लय। मर्यादा अर्थमें आङ् अव्यय है। भाव हुआ—अपीति अर्थात् लय जबतक न हो जाय। उस मनका लय होनेसे पूर्वका जो काल है उसीमें संसार (आवागमन) का व्यवहार होता है। मनका लय हो जाने पर नहीं, यह सूत्रका अर्थ है। यदि कहें कि सुषुप्तिमें भी तो चित्तका लय हो जाता है? नहीं, सुषुप्तिसे उठनेके बाद फिर संसार-पदका व्यपदेश रहता ही है। अतः मनका लय नहीं होता वह केवल उस समय निर्विषय हो जाता है। विवरणकारने जो "केयं सूक्ष्मता नाम" आदि कहते हुए मनका लय होना कहा है वह दूसरोंका मत दिखाया है उनका अपना अभिप्राय

१. ब्र० सू० ४।२।८

भगवदाकारता तु चित्तस्य स्वाभाविकी तस्य चित्तकारणीभूतसूक्ष्मकारणानिर्वचनीयविचित्रानेकशक्तिमन्मायाविष्ठानस्य नित्यस्य विभोस्सर्वान्तर्यामिणस्सर्वत्रानुगतत्वात्, यथा घटस्य जलादिपूर्णता कारणसाध्या, आकाशपूर्णता तु स्वतः, तस्य सर्वव्यापकत्वात्, तद्वत् । तदुक्तं वार्तिककारपादैः—

वियद्वस्तुस्वभावानुरोधादेव न कारकात् ।
वियत्सम्पूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्यैवन्दशा धियाम् ॥
सुखदुःखादिरूपत्वं धियां धर्मादिहेतुतः ।
स्वतस्सिद्धात्मसम्बोधव्याप्तिर्वस्त्वनुरोधतः ॥इति ॥

चित्तस्य भगवदाकारतायाः स्वाभाविकत्वेन हेत्वनपेक्षायां शास्त्रस्य

वह नहीं है । नहीं तो सूत्रसे विरोध हो जायगा । यह तात्पर्य है (विषयाकारताकी अस्थिरताका) ।

भगवदाकार होना तो चित्तका स्वाभाविक ही है क्योंकि चित्तके हेतुभूत जो सूक्ष्म भूत हैं उनकी भी कारण रूप, अनिर्वचनीय, विचित्र और अनेक शक्तियोंसे युक्त जो माया है उसका अधिष्ठान (आधार) विभु (व्यापक) सर्वान्तर्यामी वह भगवान् सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) रहता है जैसे घटको जलादिसे पूर्ण करनेके लिये किसी हेतु (पूर्ण करनेवाले) की अपेक्षा होती है किन्तु आकाशसे तो वह स्वयं ही भरा रहता है क्योंकि आकाश सर्वत्र व्याप्त है । जैसा कि वार्तिककारने कहा है —

"घड़ेमें उत्पत्तिकालसे ही जो आकाशकी पूर्णता रहती है (अर्थात् वह आकाशसे पूर्ण रहता है) इसमें आकाशरूप वस्तुका स्वभाव ही कारण है (क्योंकि आकाश सर्वत्र स्वभावतः व्याप्त रहता है इसीलिये उसमें भी अवश्य ही रहेगा) उसमें किसी कारक (पूर्ण करनेवाले) की अपेक्षा नहीं रहती । यही दशा बुद्धिकी भी है । बुद्धिकी सुखाकारता अथवा सुखसाधनाकारता धर्मके कारण होती है और दुःखाकारता या दुःखसाधनाकारता अधर्मसे होती है । किन्तु स्वतःसिद्ध जो आत्म-सम्बोध (चिद्रूप आत्मा) उसकी व्याप्ति तो वस्तुके स्वभावानुरोधसे होती है अर्थात् आत्मस्वरूपके सर्वत्र व्याप्त होनेसे उससे बुद्धि (अन्तःकरण) का पूर्ण रहना स्वाभाविक ही है ।"

[प्रश्न—] चित्तमें भगवदाकारता जब स्वाभाविक रूपसे रहती ही है

कोपयोग इति चेदन्याकारताविरोधिभगवदाकारतासम्पादन इत्यवेहि। या हि स्वाभाविकी भगवदाकारता चित्तस्य, सा विषयाकारतासहचरितत्वात्तत्साधकत्वाच्च न तद्विरोधिनी। शास्त्रजन्या तु साधनोपक्रमे परोक्षेव भासमानाऽभ्यासक्रमेण विषयाकारतां शनैश्शनैस्तिरोदधती साधनपरिपाकेणापरोक्षतां नीता सती तां समूलघातमुपहन्ति। अत एवोक्तम्—

> यर्ह्यम्बुजनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
> चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
> तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
> साक्षाद्यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाशः[1] ॥४०॥

तो उसे उत्पन्न करनेके लिये किसी दूसरे कारणकी अपेक्षा ही न रहेगी तब फिर इस भक्तिशास्त्रकी उपयोगिता कहाँ होगी ? [तात्पर्य यह है कि भगवदाराधनसे चित्तद्रुति होती है और द्रुतचित्तमें भगवदाकारता प्रविष्ट होती है। जब स्वभावसे ही चित्तमें भगवदाकारता मान लेंगे तो भगवदाराधनादि भक्तिशास्त्रकी उपयोगिता क्या रह जायगी ?] ऐसा नहीं है। जो चित्तकी स्वाभाविकी भगवदाकारता है वह विषयाकारताके साथ रहती है और उसकी साधक है, इसलिये उसका विरोध नहीं करती किन्तु भक्तिशास्त्रके अनुसार साधना करनेसे वह दूसरी ही जैसी प्रतीत होती है। क्रमसे अभ्यास करते-करते विषयाकारता का धीरे-धीरे लोप करती हुई साधनाके पुष्ट हो जाने पर फिर दूसरी सी नहीं लगती और विषयाकारताको जड़से उखाड़ फेंकती है। [जैसे घड़ेमें आकाशजन्य पूर्णता स्वाभाविक रहती है किन्तु उसे कोई जलसे भरे तो वह उसका (जलपूर्णताका) विरोध नहीं करती। ऐसे ही चित्तमें भी भगवदाकारता जो स्वाभाविकी रहती है यदि उसे कोई विषयाकारता से भरे तो उसका विरोध नहीं कर सकती इसलिये भक्तिशास्त्र आवश्यक है। शास्त्रके अनुसार जो भगवदाकारता चित्तमें आयेगी वह विषयाकारताको फिर उसमें प्रविष्ट नहीं होने देगी यह तात्पर्य है।] इसलिये कहा है—"जब मनुष्य भगवान्‌के चरणारविन्दकी इच्छासे विपुल भक्तिद्वारा गुण कर्मोंसे उत्पन्न चित्तके मैलको नष्ट कर देता है तब उस विशुद्ध

1. भा० ११। ३। ४०

यथाग्निना हेम मलञ्जहाति ध्मातम्पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥
यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मञ्चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥२६॥
विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु बिषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥२७॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्[1] ॥२८॥
एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैस्सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा[2] ॥१४॥
स च श्रीकपिलदेवेनोक्तः—

(निर्मल) चित्तमें आत्मतत्त्वको ऐसे प्राप्त करता है जैसे निर्मल दृष्टिसे सूर्यके प्रकाशको प्रत्यक्ष देखता है ॥ ४० ॥

जिस प्रकार अग्निसे तपाये जाने पर सुवर्ण अपने मैलको जला देता है और चमकते हुए अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त करता है उसी प्रकार मेरे भक्तियोग द्वारा कर्मोंकी वासनाको हटाकर यह आत्मा भी मुझे ही प्राप्त हो जाता है ॥ २५ ॥

मेरी पुण्यगाथाओंके श्रवण और कीर्तनसे ज्यों-ज्यों यह आत्मा शुद्ध होता जाता है त्यों-त्यों वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुको भी इस प्रकार देखता जाता है जैसे अञ्जन लगानेपर आँखसे प्रत्येक सूक्ष्म वस्तु भी दीखने लगती है ॥ २६ ॥

जैसे विषयोंका ध्यान करनेवालेका चित्त विषयी हो जाता है वैसे ही निरन्तर मेरा ध्यान करनेवालेका चित्त मुझमें ही लीन हो जाता है ॥ २७ ॥

इसलिये स्वप्नके मनोरथोंकी तरह असत् वस्तुओंका ध्यान छोड़कर मेरी भक्तिसे युक्त मनको मुझमें ही लगाओ ॥ २८ ॥

मेरे शिष्य सनक आदिने इसी योगका आदेश दिया है कि सब ओरसे मनको खींचकर बुद्धिपूर्वक जैसे मुझमें लगाया जाय ॥ १४ ॥

इसीको श्रीकपिलदेवने भी कहा है—

---

१. भा० ११।१४।२५-२८। २. भा० ११।१३।१४।

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ।।२१।।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण वलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ।।२२।।
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः[1] ।।२३।।

प्रकृतिः=स्वाभाविकी विषयाकारतेत्यर्थः । हंसगीतासु च—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो ।
कथमन्योन्यसन्त्यागो मुमुक्षोस्सन्तितीर्षतः[2] ।।१७।।

इति सनकादिप्रश्नस्योत्तरं भगवानुवाच—

मनसा बचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा[3] ।।२४।।
जाग्रत्स्वप्नस्सुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवस्साक्षित्वेन विनिश्चितः ।।२७।।

"निर्मल स्वरूपवाले निष्काम स्वधर्माचरणसे, चिरकालतक शास्त्रोंका अध्ययन करके की गई मेरी तीव्र भक्तिसे, पूर्ण आत्मज्ञानसे, बलवान् वैराग्यसे, तपस्या युक्त अष्टाङ्ग योगसे, तीव्र आत्मसमाधिसे रातदिन जलती हुई मनुष्यकी प्रकृति इस प्रकार अन्तर्धान हो जाती है जैसे कि अरणिसे उत्पन्न अग्नि उस अरणिको ही धीरे-धीरे जलाकर नष्ट कर देता है ।। २१-२३ ।।

प्रकृति अर्थात् स्वाभाविकी विषयकारता । हंसगीतामें भी—हे प्रभो ! चित्त विषयोंमें आसक्त होता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट होते हैं, इसलिये विषयोंका अतिक्रमण करनेकी इच्छावाले मुमुक्षुके चित्त और विषय परस्पर एक दूसरेका त्याग कैसे करें ?

सनकादिके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने कहा है "मनसे, वचनसे दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह सब मैं (भगवान्) ही हूँ मुझसे अन्य कुछ है ही नहीं, ऐसा विचार पूर्वक समझें ।"

"जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ये गुणोंसे जन्य बुद्धिकी वृत्तियां हैं उनमें यह जीव विलक्षण है जो केवल साक्षी रूपसे माना गया है ।

१. भा०३।२७।२१-२३। २. भा० ११।१३।१७। ३. भा० ११।१३।२४।

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥२८॥
अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥२९॥
यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञस्स्वप्ने जागरणं यथा ॥३०॥
असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥३१॥
यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥३२॥

क्योंकि यह संसार-बन्धन आत्माको इन गुण-वृत्तियोंका देनेवाला है। इसलिये साक्षी (इन तीनों वृत्तियोंसे भिन्न चौथा) रूप मुझ परमात्मामें स्थित होकर इसका त्याग करदे, इससे विषय और चित्तका परस्पर त्याग हो जाता है ॥

अहङ्कार कृत बन्धनको आत्माके लिये विपरीत फल देनेवाला समझे इसलिये विरक्त होकर तुरीय मुझ परमात्मामें स्थित हुआ संसार-चिन्ताका त्याग करदेवे ॥ २९ ॥

जब तक मनुष्यकी नानात्मिका भेद बुद्धि युक्तियों द्वारा नष्ट नहीं हो जाती तबतक वह अज्ञानी जागता हुआ भी सोयासा है अथवा जैसे स्वप्नमें जागरण सा प्रतीत होता है, जो व्यर्थ है ॥ ३० ॥

आत्मासे देहादि भाव भिन्न हैं इसलिये इनसे उत्पन्न फल, कर्म आदि इस आत्माके स्वप्नकी भाँति मिथ्या हैं ॥३१॥

त्रिगुणात्मिका वृत्ति द्वारा प्रकट होनेवाला, इन्द्रियोंका स्वामी जो परमात्मा जाग्रत् अवस्थामें प्रतिक्षण अपने धर्मको प्रकट करनेवाले बाह्य विषयोंको सम्पूर्ण इन्द्रियों द्वारा भोग करता है, स्वप्नावस्थामें हृदयमें स्थित होकर वैसे ही सूक्ष्म पदार्थोंका भोग करता है और सुषुप्तिमें उन सभीका नाश कर देता है, वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त होनेसे एक है ॥३२॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
सञ्छिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माऽखिलसंशयाधिम्[1] ॥३३॥
एवंजिज्ञासयाऽपोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे[2] ॥२१॥

इत्यादि। अयमत्र निष्कर्षः—चित्ते स्वाकारसमर्पका ये विषयास्ते भगवद्व्यतिरिक्ता न भवन्ति, भगवत्यध्यस्तत्वात्, भगवत एव सद्रूपतया घटःसन् पटःसन्नित्यादिसदाकारेणैव सर्वविषयाणां स्फुरणात्, "सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलान्[3]" इति श्रुत्या भगवदेकोद्भवत्वेन भगवदेकस्थितित्वेन भगवदेकलयत्वेन च मृद्घटवदबोधनात्, स्वप्नादि-

इस प्रकार गुणोंके द्वारा मनकी ये तीन अवस्थायें (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) मेरी माया द्वारा मुझमें ही कल्पित की गई हैं। यह सोचकर अनुमान और सज्जनोंकी उक्ति (शब्द) द्वारा तीक्ष्ण ज्ञानरूप तलवारसे सम्पूर्ण सन्देह रूप आधियोंको नष्ट करके हृदयमें स्थित मुझ परमात्माका भजन करो ॥३३॥"

"ऐसी जिज्ञासासे नानात्व भ्रमको हटाकर सर्वत्र व्याप्त आत्मस्वरूप मुझमें निर्मल मनको अर्पण करके शान्त हो जाय।" इत्यादि

इस सबका सारांश यह है—चित्तमें अपने आकारसे प्रविष्ट होनेवाले जो विषय हैं वे भगवान्से व्यतिरिक्त नहीं हैं क्योंकि उनका भी भगवान्में अध्यास होता है। भगवान् ही सत् रूप है और घटः सन् पटः सन् (घट है, पट है) इत्यादिमें सत्ता रूपसे ही सब विषयोंका भी स्फुरण होता है, "यह सब ब्रह्म ही है क्योंकि उस ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है उसीमें लीन हो जाता है" इस श्रुतिसे एकमात्र भगवान्से उत्पन्न, एकमात्र भगवान्में स्थित और एकमात्र भगवान्में लय होनेसे मिट्टी और घड़ेकी भाँति जगत् और ब्रह्ममें भी अभेद है। स्वप्नादि प्रपञ्चकी तरह यह भी बाध्य है [जैसे स्वप्नमें हम अपनेको राजा हुआ देखते हैं तो जितनी देर स्वप्न रहता है उतनी देर वास्तवमें अपनेको राजा ही समझते हैं किन्तु नीद खुलने पर वह सारा

---

१. भा० ११।१३।२७-३३। २. भा० ११।११।२१। ३. छा० ३।१४।१।

प्रपञ्चवद्बाध्यत्वाच्च । अत एव भगवदाकारस्फूर्त्यां ते सर्वे निवर्तमानास्तद्रूपा एव भवन्ति, अधिष्ठानज्ञाननिवर्त्यत्वादध्यस्तानाम् ।

एवञ्च सति विषयनिष्ठः सर्वोऽपि प्रेमा भगवत्येवार्पितो भवति, तद्व्यतिरिक्तास्फुरणात् । एतादृशी चावस्था प्रह्लादेन प्रार्थिता—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतस्सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु[1] ॥इति॥

तस्मादेतादृशयुक्त्यनुसन्धानेन सर्वाधिष्ठानसन्मात्रं परिपूर्णसप्रपञ्च समाप्त हो जाता है उसी प्रकार जबतक आत्मबोध नहीं हो जाता तबतक संसार वास्तविकसा प्रतीत होता है किन्तु भगवत्स्वरूपका ज्ञान हो जाने पर स्वप्न जगत्की भाँति इस जगत्का भी बाध हो जाता है, यह कुछ नहीं रह जाता ।]

अतएव (भगवदध्यस्त होने और भगवद्व्यतिरिक्त न होनेसे ही) भगवदाकारका स्फुरण होने पर वे सारे जागतिक प्रपञ्च अथवा विषय निवृत्त होकर भगवद्रूप ही हो जाते हैं क्योंकि अधिष्ठानका ज्ञान होने पर अध्यस्तकी निवृत्ति हो जाती है ।

[जैसे रस्सीको भ्रमसे साँप समझ लिया तो ज्यों ही रस्सीकी वास्तविकता प्रतीत हुई त्यों ही साँपकी स्वयं निवृत्ति हो जायगी । यहाँ रस्सी है अधिष्ठान, उसमें साँपका भ्रम होता है वह साँप हुआ अध्यस्त, अधिष्ठानका ज्ञान हो जाने पर अध्यस्तकी निवृत्ति हो गई । इसी प्रकार भगवान् है अधिष्ठान, उसमें विषयोंका अध्यास होता है, ज्यों ही भगवान्की वास्तविकता प्रतीत होती है त्यों ही विषयोंकी निवृत्ति हो जाती है । यह तात्पर्य है ।]

ऐसा होने पर विषयोंमें रहनेवाला भी सम्पूर्ण प्रेम भगवान्को ही अर्पित होता है क्योंकि वे विषय भगवान्से भिन्न नहीं स्फुरित होते । ऐसी ही अवस्थाकी प्रार्थना प्रह्लादने की थी—

"अज्ञानियोंका विषयोंमें जो निरन्तर प्रेम होता है वही प्रेम, हृदयमें तुम्हारा स्मरण करते हुए मेरा, तुम पर हो और वह कभी मेरे हृदयसे दूर न हो"

इसलिये इस प्रकारकी युक्तियोंके अनुसन्धानसे सर्वाधिष्ठान-सन्मात्र,

---

१. विष्णु पुराण १।२०।१९ ।

च्चिदानन्दघनं भगवन्तमद्वयमात्मानं निश्चिन्वतः स्वाप्निकविषयेष्विव जाग्रद्विषयेष्वपि तुच्छत्वानुसन्धानेन वैराग्यं महदुपजायते वशीकाराख्यम्। एतच्च सूत्रितं भगवता पतञ्जलिना-"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यमिति"। चतुर्विधं हि वैराग्यं साध्यसाधनभावापन्नमागमप्रसिद्धम्। तत्र महता प्रयासेनापि चित्तदोषानवश्यं निराकरिष्यामीत्यध्यवसायात्मकं प्रथमं यतमानसंज्ञावैराग्यम्। ततो निरन्तरमुपायानुष्ठाने क्रियमाण एतावन्तो दोषा इदानीं क्षीणा एतावन्तश्चावशिष्यन्त इति चिकित्सकवत् प्रतिक्षणमवधानं द्वितीयं व्यतिरेकसंज्ञावैराग्यम्। एवं प्रतिक्षणं भूमिकाद्वयाभ्यासं कुर्वतस्सर्वतोभावेन बहिरिन्द्रियाणां विषयेष्वप्रवृत्तिर्याऽन्तःकरणे वासनायां सत्यामपि, सा तृतीयमेकेन्द्रियसंज्ञावैराग्यम्। एवं भूमिकात्रयाभ्यासाद्दृष्टेषु वनितादिष्वानुश्रविकेषु स्वर्गादिषु चेन्द्रियैर्गृह्यमाणेष्वपि

पूर्ण सच्चिदानन्दघन, भगवान्, अद्वय, आत्मरूपका निश्चय करते हुए भक्तको स्वप्नमें दीखनेवाले विषयोंकी भाँति जाग्रदवस्थाके विषयोंमें भी तुच्छत्वका विवेक होजानेसे वशीकार नामका महावैराग्य उत्पन्न होता है। यही संक्षपमें भगवान् पतञ्जलिने कहा है--"दृष्ट (लौकिक-स्त्री आदि) और आनुश्रविक (वैदिक-स्वर्गादि) विषयोंमें तृष्णा न रखनेवालेको जो वैराग्य होता है उसकी वशीकार संज्ञा है"।

साध्यसाधन-भावको प्राप्त हुआ चार प्रकारका वैराग्य शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है--१--"अत्यन्त प्रयत्न करके भी चित्तके दोषोंको अवश्य दूर करूँगा" ऐसा निश्चयात्मक पहला वैराग्य है जिसे यतमान वैराग्य कहते हैं। २--इस निश्चयके बाद निरन्तर दोषोंको दूर करनेके उपायोंको करते हुए इतने दोष अबतक नष्ट हो गये और इतने अभी शेष हैं ऐसा चिकित्सककी भाँति प्रतिक्षण सावधान होकर निरीक्षण करना, दूसरा व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य है। ३--इन दोनों भूमिकाओंका अभ्यास करते हुए व्यक्तिका अन्तःकरणमें वासना रहते हुए भी सब प्रकारसे बहिरिन्द्रियों द्वारा विषयोंमें प्रवृत्ति न होना, तीसरा एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य है। ४--इन तीनों भूमिकाओंका अभ्यास करते हुए दृष्ट = वनितादि लौकिक विषयोंका और आनुश्रविक = स्वर्गादि वैदिक विषयोंका ग्रहण करते हुए भी उनमें दोषदृष्टिका परिपाक

दोषदर्शनपरिपाकजन्याऽस्पृहात्मिका या चित्तवृत्तिस्सा चतुर्थं वशीकारसंज्ञावैराग्यम्। तदपि द्विविधमपरं परञ्च। द्वितीयं सूत्रितं पतञ्जलिना-"तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यमिति।" पुरुषख्यातिरात्मज्ञानम्। तदनन्तरं यत् गुणेषु=शब्दादिविषयेषु वैतृष्ण्यम्=वैराग्यं तत् परम्=श्रेष्ठम् फलरूपत्वात्। ततः पूर्वन्त्वपरम्, साधनरूपत्वादित्यर्थः। तस्य च लिङ्गमितरफलनिरपेक्षत्वेन मोक्षमात्रस्पृहयालुत्वम्। यथा मुचुकुन्दस्य—

न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो।
आराध्य कस्त्वामपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्॥५६॥
तस्माद्विसृज्याऽऽशिष ईश सर्वतो रजस्तमस्सत्त्वगुणानुबन्धाः।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम्॥५७॥

हो जानेसे (पूर्ण दोष दृष्टिसे) जन्य स्पृहारूप जो चित्तवृत्ति, वही चतुर्थ वशीकार संज्ञा वैराग्यकी है।

वह भी (वशीकार) दो प्रकारका होता है--अपर और पर, पतञ्जलिका दूसरा सूत्र है--"पुरुषख्याति (आत्मज्ञान) के बाद गुणोंमें होनेवाला तृष्णाका अभाव परम वैराग्य है" अर्थात् पुरुषख्याति=आत्मज्ञान, उसके अनन्तर गुणोंमें=शब्दादियोंमें जो वैतृष्ण्य=वैराग्य, वह पर=श्रेष्ठ वैराग्य है क्योंकि वही साध्य=फलरूप है। और उससे पूर्वका अपर वैराग्य है क्योंकि वह इस साध्यका साधन रूप है। उसका लक्षण केवल इतर फलोंसे निरपेक्ष होकर मोक्षमात्रकी स्पृहा करना ही है। जैसे मुचुकुन्दका कथन है--

"हे प्रभो ! जिससे श्रेष्ठ दूसरा कोई प्रार्थ्य हो ही नहीं सकता ऐसे आपके चरणाविन्दका सेवन करनेके सिवा दूसरा कोई वर में नहीं चाहता। हे हरे ! कौन ऐसा ज्ञानी व्यक्ति होगा जो अपवर्ग[1] देनेवाले आपकी आराधना करके अपनेको बन्धनमें डालनेवाला वर माँगे॥५६॥

---

१. प. फ. ब. भ. म ये पवर्ग कहलाते हैं। इनके प्रतीक हैं प-पाप-पुण्य, फ-फल (कर्मोंके), ब-बन्धन, भ-भेद और म-मोह, यह पवर्ग जिसमें नहीं होता अर्थात् इसके विपरीत अपवर्ग=मोक्ष है।

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै-
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश[१] ॥इति॥

एतादृशदशायाञ्च भगवत्प्रेमा न पराङ्काष्ठामधिरोहतीति तदर्थं तं प्रति भगवतोक्तम्—

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तूनवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघम्मदपाश्रयः ॥६३॥
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः ।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामन्ते ब्रह्म यास्यसि[२] ॥इति॥

अपरवैराग्यञ्च सूत्रितं पतञ्जलिना—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य

इसलिये हे ईश ! सब ओरसे मिलनेवाले रजस्तमःसत्त्व गुणोंसे युक्त आशीर्वादोंको छोड़कर निरञ्जन, निर्गुण, अद्वय, ज्ञप्तिमात्र परमपुरुष तुमको प्राप्त होता हूँ ॥५७॥

चिरकालतक पापोंसे सताया गया, पश्चात्तापोंसे संतप्त, षट् रिपुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य)के शान्त न होनेसे किसी प्रकार भी शान्ति न पाकर हे शरणद ! अभय देनेवाले, ऋतरूप और शोकरहित आपके चरणकमलोंमें प्राप्त हुआ हूँ । हे परात्मन् ! हे ईश ! शरणमें आये हुए मेरी रक्षा कीजिये ॥५८॥

ऐसी अवस्थामें भी भगवत्प्रेम पराकाष्ठाको नहीं पहुंचता इसके लिये मुचुकुन्दसे भगवान्ने कहा है—

क्षत्रिय धर्ममें रहकर मृगया आदिसे तुमने बहुतसे प्राणियोंका वध किया है इसलिये मुझमें ध्यान लगाकर तपस्या द्वारा समाधिनिष्ठ हो उस पापको धो डालो । हे राजन् ! तब दूसरे जन्ममें सब प्राणियोंके अत्यन्त हितैषी श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर अन्तमें मुझ परब्रह्मको प्राप्त होओगे ॥६३-६४॥

अपर वैराग्यको भी पतञ्जलिने सूत्ररूपमें कहा है—"दृष्ट (लौकिक वनितादि) और आनुश्रविक (वैदिक स्वर्गादि) विषयोंमें तृष्णारहित होने पर वशीकार संज्ञक वैराग्य होता है ।"

---

१. भा० १०।५१।५६-५८ । २. भा० १०।५१।६३-६४

वशीकारसंज्ञावैराग्यम्" इति । तेन न प्रेमपरमकाष्ठेति न तदानीमेव कृतार्थता, परवैराग्याभावेन भक्तिप्रकर्षाभावात्, तस्यैव कृतकृत्यताहेतुत्वादित्यर्थः । परवैराग्यस्य लिङ्गं मोक्षपर्यन्तसकलफलनिरपेक्षत्वम् । यथा—

इमं लोकन्तथैवामुमात्मानमुभयाऽऽयिनम् ।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः[1] ॥३९॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेकं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान् मृत्योरतिपारये ॥४०॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः[2] ॥१३॥
नैकात्मताम्मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि[3] ॥३४॥

इससे भी प्रेमकी पराकाष्ठा न होनेसे उसी समय कृतकृत्यता नहीं होती । क्योंकि पर वैराग्य न होनेसे भक्तिका प्रकर्ष इसमें भी नहीं होता । पर वैराग्य ही कृतकृत्यताका हेतु होता है । परवैराग्यका लक्षण होता है मोक्ष पर्यन्त सम्पूर्ण फलोंसे निरपेक्ष होना । जैसे—

"इस लोक और परलोक दोनोंमें घूमनेवाले आत्माको और उस आत्माके पीछे-पीछे चलनेवाले धन, पशु, गृह आदिको भी छोड़कर मुझ विश्वतोमुखको ही जो अनन्य भावसे भजते हैं उन्हें ही मैं मृत्युसे पार करता हूँ ॥३९-४०॥

भक्तजन मेरे भजनके सिवा मुझसे दिये जाते हुए सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य मुक्तिको भी नहीं लेते स्वयं इनको चाहना तो दूर रहा ॥१३॥

मेरे चरणोंकी सेवा में लगे हुए मेरे ही निमित्त कर्म करने वाले कुछ भक्त तो मेरी सरूपताको (मुझमें एकात्म भावको) भी नहीं चाहते । वे ऐसे भक्त हैं जो एकत्रित होकर परस्पर मेरे पुरुषार्थों की प्रशंसा किया करते हैं ॥३४॥

---

१. भा० ३।२५।३९-४०, २. भा० ३।२९।१३, ३. भा० ३।२५।३४,

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्[1] ।।१४।।
प्रह्लादः—अहन्त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव[2] ।।६।।
पृथुः—न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-
न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः[3] ।।२४।।
ध्रुवः—या निर्वृ तिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किम्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्[4] ।।१०।।

जिसने मुझमें अपनी आत्माको अर्पित कर दिया है । मेरे सिवा उसे पारमेष्ठ्य (ब्रह्मलोक) का, स्वर्गलोकका, सम्पूर्ण भूमण्डलका अथवा पाताललोकका आधिपत्य भी नहीं चाहिये । वह योगकी नाना सिद्धियों-यहाँ तक कि मुक्तिको भी नहीं चाहता ।।१४।।

प्रह्लादने कहा है—मैं आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं । इसलिये राजा और सेवककी तरह हम दोनोंका सेव्यसेवकभाव नहीं है ।।६।।

पृथुने कहा हैं—हे नाथ ! आपके भक्तोंके हृदयसे मुखद्वारा निकला हुआ आपके चरणकमलका मकरन्द जिस कैवल्यमें नहीं है ऐसे कैवल्यको मैं नहीं चाहता । मुझे यही वर दीजिये कि आपकी कथा सुननेके लिये मेरे दस हजार कान हो जायं । (अर्थात् १०००० कानोंसे जितनी कथा सुनी जा सकती है इतनी मैं सुनूँ) ।।२४।।

ध्रुवने कहा है—हे नाथ ! सब देहधारियोंको आपके चरणारविन्द के ध्यानसे अथवा भक्तजनोंके साथ आपके कथा-श्रवणसे जो आनन्द मिलता है वह आत्मानन्दरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिलता । कालके खड्गसे छिन्न-

---

१.भा०११।१४।१४। २.भा० ७।१०।६, ३.भा०४।२०।२४, ४.भा०४।६।१०।

महिष्यः—न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजश्श्रियः
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यम्मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः[1] ॥४२॥

इन्द्रः—प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नस्स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतान्ते
मुक्तिस्तेषान्न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम्[2] ॥४२॥

तथा—यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किंक्षुद्रैः खातकोदकैः[3] ॥२२॥

वृत्रः—न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वां विरहय्य काङ्क्षे ।२५।

भिन्न हुए (पुण्य क्षीण होनेसे खण्डित) विमानोंसे नीचे गिरनेवाले स्वर्ग वासियोंको वह आनन्द मिले, यह कैसे संभव है ॥१०॥

रानियों ने कहा है—हे साध्वि ! हमें साम्राज्य, स्वाराज्य, भोज्य अथवा भौम (सारी पृथ्वी का आधिपत्य) वैराज्य, पारमेष्ठ्य (ब्रह्माका पद) अथवा कभी नष्ट न होनेवाला हरिका पद भी नहीं चाहिये । हम तो केवल स्तनों में लगाये जानेवाले कुङ्कुमकीसी गन्धसे भरे हुए, गदाधारी भगवान्के चरणकमलकी रजःश्रीको सिरमें धारण करना चाहती हैं ॥४१-४२।

इन्द्रने कहा है—हे परमेश्वर ! हमारी रक्षा करते हुए आपने दैत्यसे अपना ही यज्ञभाग लौटाया है और दैत्य (हिरण्यकशिपु) के भयसे आक्रान्त हमारे हृदयकमलरूपी अपने निवास स्थानको विकसित किया है । हे नाथ ! हे नारसिंह ! कालग्रस्त होनेसे अति तुच्छ इस त्रिलोकीकी तो बात ही क्या है आपके भक्तों को तो आपकी भक्तिके सामने मुक्ति भी अच्छी नहीं लगती, फिर अन्य (पुरुषार्थों) की तो बात ही क्या हैं ? ॥४२॥

निःश्रेयसात्मा भगवान् कृष्णमें जिसकी दृढ़भक्ति है उसे क्षुद्र विषयों से क्या प्रयोजन है जैसे अमृत-समुद्रमें गोते लगाता हुआ व्यक्ति गढैयों के जलसे क्या करेगा ॥२२॥

---

१. भा० १०।८३।४१-४२, २. भा० ७।८।४२, ३. भा० ६।१२।२२ ।

श्रुतयः--दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवाऽऽत्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः[1] ॥२१॥

एवमन्यदप्यूहनीयम् । एतादृशे मोक्षपर्यन्तसकलफलनिरपेक्षत्वरूपे परवैराग्ये सति फलान्तरे प्रेम्णोऽनुदयात् परमानन्दरूपे परमात्मन्येव प्रेमा पराङ्काष्ठामारोहति । यथा वृत्रस्य---

अजातपक्षा इव मातरं खगास्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्[2] ॥२६॥इति।

अत एव ज्ञानं विना परवैराग्याभावात्तदृते च भगवत्प्रेमपराकाष्ठाभावात्तदर्थं ज्ञानवैराग्ये दृढीकर्तव्ये । तदुक्तम्--

वृत्रने कहा है--हे सर्वसमृद्धिमान् ! आपको छोड़कर मुझे स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, सम्पूर्ण पृथ्वीका आधिपत्य, पातालका आधिपत्य, विभिन्न योगज सिद्धियाँ, यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहिये[3] ॥२५॥

श्रुतियोंने कहा है--हे ईश्वर ! दुर्बोध आत्मतत्त्वको बतलानेके लिये अवतार धारण करनेवाले आपके चरित्ररूप समुद्रमें स्नान करके श्रमरहित हुए तथा आपके चरणारविन्दोंमें हंसकी भाँति रमण करनेवाले भक्तजनोंके संगसे, जिन्होंने गृहादिमें आसक्ति त्याग दी है ऐसे कई भक्तजन मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते ॥२१॥

इसी प्रकार अन्य भी प्रमाण समझने चाहिये । ऐसे मोक्षपर्यन्त सम्पूर्ण फलोंमें निरपेक्ष होना रूप परवैराग्य जब हो गया, तब दूसरे फलोंमें प्रेम उदय ही नहीं होगा । अतः परमानन्दरूप परमात्मामें प्रेम पराकण्ठाको आरूढ़ हो जाता है । जैसे वृत्रका--

जैसे पंखविहीन छोटे-छोटे पक्षी क्षुधार्त हुए अपनी माँकी प्रतीक्षा करते हैं, जैसे क्षुधातुर बछड़े अपनी मांके दूधकी प्रतीक्षा करते हैं और जैसे मोहित हुई कामिनी अपने प्रवासी पतिकी प्रतीक्षा करती है इसी प्रकार हे कमलनयन ! मेरा मन आपके दर्शनोंकी प्रतीक्षा कर रहा है ॥२६॥

अब चूंकि ज्ञानके बिना परवैराग्य नहीं हो सकता और परवैराग्यके

---

१. भा० १०।८७।२१, २. भा० ६।११।२६ । ३. भा० ६।११।२५,

असेवयाऽयम्प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या माम्प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे[1] ॥२७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्[2] ॥४३॥
इत्यच्युताङ्घ्रिम्भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्[3] ॥४३॥

भागवतस्य=भगवद्धर्मानुष्ठातुः प्रथमं भगवत्प्रबोधस्ततः परं वैराग्यं ततः प्रेमलक्षणा भक्तिरित्यर्थः ।

एतच्च दर्शितमुद्धवाय श्रीभगवता—

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टस्स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः ।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥२॥

बिना भगवत्प्रेम पराकाष्ठाको नहीं पहुँचता, इसलिये उत्कृष्ट भगवत्प्रेमके लिये ज्ञान और वैराग्यको दृढ़ करना चाहिये । इसलिये कहा है—

प्रकृतिके गुणोंमें आसक्त न होनेसे, वैराग्य द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए ज्ञानसे, योग द्वारा तथा मुझमें सर्वात्मरूपेण समर्पित भक्तिसे मुझ परमात्माको अपने हृदयमें अवरुद्ध कर लेता है ॥२७॥

ज्ञान वैराग्यसे युक्त भक्तियोगके द्वारा योगीजन अपने कल्याणके लिये मेरे उस चरणमूलमें प्रवेश करते हैं जहाँ किसी प्रकारका भय नहीं होता ॥४३॥

हे राजन् ! इस प्रकार भगवान्‌के चरणोंकी भक्तिका बराबर अभ्यास करनेसे उस भगवद्भक्तको अवश्य ही भगवान्‌में प्रेम, संसारसे वैराग्य और भगवत्स्वरूपका ज्ञान हो जाता है और फिर वह साक्षात् परमशान्तिको प्राप्त होता है ॥४३॥

भागवत अर्थात् भगवद्धर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले भक्तको पहिले भगवत्प्रबोध, फिर परवैराग्य और तब प्रेमलक्षणा भक्ति होती है, यह तात्पर्य है । इसीको श्रीभगवान्‌ने उद्धवके लिये प्रकट किया है—

ज्ञानीके लिये तो मैं ही इष्ट स्वार्थ और उसकी प्राप्तिका साधन हूं । मेरे बिना उसे स्वर्ग, मोक्ष और अन्य कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं है ॥२॥

---

१. भा० ३।२५।२७, २. भा० ३।२५।४३, ३. भा० ११।२।४३ ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्[1] ॥३॥

कीदृशं तज्ज्ञानमित्याकाङ्क्षायां संक्षेपेण तदुक्तम्—

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायाऽन्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये[2] ॥७॥

भगवद्व्यतिरिक्तं सर्वमागमापायित्वात् स्वप्नवन्मायिकं तुच्छं दुःखरूपञ्च हेयम् । भगवानेव सत्यस्स्वप्रकाशपरमानन्दरूपो नित्यो विभुश्चोपादेय इति ज्ञानमित्यर्थः । श्रीमद्भगवद्गीतासु च तदेवोक्तम्—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनास्सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न व्यक्ति ही मेरे श्रेष्ठपदको जानते हैं इसीलिये मुझे ज्ञानी प्रिय है, क्योंकि वह ज्ञानद्वारा ही मुझे धारण करता है ॥३॥

वह ज्ञान कैसा है ? ऐसी आकांक्षापर संक्षेपमें कहा है—

"हे उद्धव ! तीन प्रकारका (देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप) जो विकार तुममें आश्रित है वह सब मायासे उत्पन्न हुआ है । क्योंकि यह रज्जुमें सर्पकी भाँति केवल मध्यमें ही प्रतीत होता है आदि-अन्तमें नहीं रहता । इसलिये इस मायिक देहादिका जन्म आदि होनेपर तुम्हारा जन्मादि क्यों हो (क्योंकि तुम तो निर्विकार ब्रह्म ही हो) । असत् पदार्थ (जैसे सर्प) के आदि अन्तमें जो (रज्जु) था वही (रज्जु ही) मध्यमें भी है (किन्तु मायासे सर्प प्रतीत होता है) ॥७॥

भगवान्से अतिरिक्त सब आगमापायि (प्रसङ्गवश आने और जाने वाले अर्थात् नाशवान्) होनेसे स्वप्नकी तरह मायाजन्य, दुःखरूप और हेय है । भगवान् ही सत्य, स्वयंप्रकाश, परमानन्दरूप, नित्य, विभु होनेसे उपादेय (ग्राह्य) है, यही आत्म-ज्ञान है । यह तात्पर्य है । भगवद्गीतामें भी यही कहा है—

"हे भरतर्षभ ! उत्तम कर्मवाले चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं

---

१. भा० ११।१९।२-३, २. भा० ११।१९।७ ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदारास्सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितस्स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमाङ्गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवस्सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः[1] ॥१९॥इति।

वासुदेवातिरिक्तं सर्वं सत्यन्नास्ति मायिकत्वात्, वासुदेव एवात्मत्वात् प्रियतमस्सत्य इत्यर्थः । एतादृशज्ञानपूर्वकवैराग्यश्च दर्शितम् –

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानञ्चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते ॥१७॥

आर्त[2], जिज्ञासु[3], अर्थार्थी[4] और ज्ञानी ॥१६॥

उनमें भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ ज्ञानी अति उत्तम है क्योंकि ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे भी अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

यद्यपि ये सभी उदार हैं (क्योंकि श्रद्धा सहित मेरा भजन करते हैं) परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मैं समझता हूं । क्योंकि वह स्थिरबुद्धि होकर उत्तम गतिरूप मुझमें ही स्थित है ॥१८॥

बहुत जन्मों के बाद अन्तमें ज्ञानी मुझे प्राप्त होता है । जो सब कुछ वासुदेव ही हैं (अर्थात् भगवान्‌के सिवा और कुछ है ही नहीं) ऐसा समझता है वह महात्मा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है ॥१९॥

वासुदेवसे अतिरिक्त सब कुछ असत्य है क्यों कि शेष सब मायासे उत्पन्न हुआ है । वासुदेव ही परमात्मस्वरूप होनेसे सत्य है, यह तात्पर्य है । ऐसा ज्ञान होनेके बाद ही वैराग्य होता है, यह दिखाया है—

"श्रुति (वेद), प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (अनुभवी लोगों के अनुभव) और अनुमान ये चार प्रमाण हैं । इन प्रमाणों में अनवस्थान होनेसे अर्थात् इनसे बाधित होनेसे वह विकल्पसे विरक्त होता है ॥१७॥

---

१. गी० ७।१६-१९,

२. अपने संकट निवारणके लिये मुझे भजनेवाला ।

३. यथार्थरूप मुझे जाननेकी इच्छावाला ।

४. सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये मुझे भजनेवाला ।

कर्मणां फलरूपत्वादा विरिञ्चादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वर पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्[1] ॥१८॥

तथाऽन्यत्र—

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८॥
नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिस्साधितैश्चलैः ॥१९॥
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंस यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥ इति ।

कीदृशी भगवद्धर्मानुष्ठातुर्ज्ञानवैराग्यपूर्विका भगवति भक्तिरुदेती-त्याकाङ्क्षायामुक्तम्—

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षस्समाचर ॥२२॥

सभी कर्म परिणामी (फल देनेवाले) हैं, इसलिये ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी अदृष्ट सुखोंको भी दृष्ट सुखोंकी भाँति ही विद्वान् पुरुष अमङ्गल जान कर नाशवान् समझे ॥१८॥

और अन्यत्र भी कहा है—

"दुःखनिवृत्ति एवं सुख प्राप्तिके लिये कर्मोंको प्रारम्भ करते हुए स्त्री-पुरुष रूपसे विचरणशील मनुष्योंके कर्म फलोंकी विपरीतताको देखे ॥१८॥

सर्वदा दुःखद, घोर परिश्रम साध्य, अपनी मृत्युके कारणभूत धनसे तथा कर्मों द्वारा प्राप्त किये गये घर, पुत्र, बान्धव, पशु आदिसे क्या सुख प्राप्त होगा (जो स्वयं नाशवान् हैं) ॥१९॥

जैसे माण्डलिक राजाओंका ऐश्वर्य अपनेसे बराबर वालोंसे संघर्ष और अधिक बलशालीसे भययुक्त बना रहता है इसी प्रकार कर्मोंसे निर्मित पर-लोकको भी नाशवान् ही समझे ॥ २० ॥

अब भगवद्धर्मका अनुष्ठान करनेवालेको ज्ञान वैराग्य पूर्विका कैसी भक्ति उत्पन्न होती है, इस आकांक्षामें कहा है—

यदि मुझ परब्रह्ममें निश्चल होकर कर्मको धारण नहीं कर सकते

---

१. भा० ११।१९।१७-१८। २. भा ११।३।१८-२०।

श्रद्धालुर्मे कथाश्शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः ।
गायन्ननुस्मरञ्जन्म कर्म चाभिनयन् मुहुः ॥२३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलाम्भक्तिं मय्युद्धव सनातने[१] ॥२४॥

तथा—

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणम्परम् ॥१९॥
श्रद्धाऽमृतकथायाम्मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिस्तवनं मम ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाऽभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥२१॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणञ्च मनसस्सर्वकामविवर्जनम् २२॥

हो तो सब कर्मोंसे (कर्मफलोंसे) निरपेक्ष होकर आचरण करो ॥
उद्धव ! श्रद्धालु होकर मङ्गलकारिणी और लोकको पावन करनेवाली मेरी कथाओंको सुनता हुआ, उनका कीर्तन और स्मरण करता हुआ, मेरे जन्म और कर्मोंका बार-बार अभिनय करता हुआ, मेरी शरणमें आकर मेरे ही निमित्त धर्म, काम और अर्थका आचरण करता हुआ मुझ सनातनमें निश्चल भक्तिको प्राप्त होता है ॥ २२-२४ ॥

तथा—"हे निष्पाप उद्धव ! भक्तियोग तो मैंने आपसे पहिले ही कह दिया है फिर भी आपकी उसमें प्रीति है इसलिये अपनी भक्तिके उत्तम कारणोंको फिरसे कहूँगा ॥ १९ ॥

अमृत तुल्य मेरी कथामें श्रद्धा, बार-बार मेरा कीर्तन, मेरी पूजामें आस्था, स्तुतियों द्वारा मेरा स्तवन, मेरी सेवामें आदर, समस्त अङ्गों द्वारा मेरा अभिवादन, मेरे भक्तोंका सम्मान, सब प्राणियोंको मेरा ही स्वरूप समझना, देहकी सम्पूर्ण चेष्टाएं मेरे लिये ही करना, वाणीसे सर्वदा मेरे गुणोंका वर्णन, मनको मुझमें अर्पण कर देना, समस्त कामनाओं का परि-

---

१. भा० ११ । ११ । २२-२४

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतन्तपः ॥२३॥
एव धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥२४॥

तथाऽन्यत्र—

तस्माद्गुरुम्प्रपद्येत जिज्ञासुश्श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णात ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥२१॥
तत्र भागवतान्धर्माञ्छिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः ॥२२॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गश्च साधुषु ।
दयाम्मैत्रीम्प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥
शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसाञ्च समत्वन्द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥२४॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥२५॥

त्याग, मेरेलिये समस्त धन-भोग और सुखका त्याग, तथा मेरेलिये किये हुए यज्ञ, दान, होम, जप, व्रत, तपस्या इस प्रकारके धर्मोंसे आत्मनिवेदन करने वाले मनुष्योंकी मुझमें भक्ति होती हैं। फिर ऐसे भक्तके लिये कौनसा अभीष्ट अर्थ शेष रह जाता है ॥ २०-२४ ॥

तथा अन्यत्र भी कहा है—

"इसलिये उत्तम कल्याणको जाननेकी इच्छावाला पुरुष शब्दरूप ब्रह्म और परब्रह्ममें निष्णात (विद्वान् और कर्मठ) तथा रागद्वेषसे रहित गुरुकी शरणमें जावे ॥ २१ ॥

वहाँ गुरुको ही आत्मस्वरूप और देवता मानकर छल कपट रहित सेवा करके उन भागवत धर्मोंको सीखे जिनसे आत्मज्ञान देनेवाले आत्मरूप भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥

पहिले सर्वत्र स्त्री-पुत्रादिमें अनासक्ति, फिर सज्जनोंकी सङ्गति, और प्राणियोंमें निष्कपट होकर यथोचित दया, मित्रता एवं विनयको सीखे। शौच, तप, क्षमा, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहन करना सीखे ॥ २३-२४ ॥

श्रद्धाम्भागवते शास्त्रे ह्यनिन्दाऽन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥
श्रवणङ्कीर्तनन्ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥१८॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्या (र्यां) चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥३०॥
स्मरन्तस्स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥३१॥

सब प्राणियोंमें चेतनरूप आत्मा और नियन्ता ईश्वरका दर्शन, एकान्तमें निवास, गृहशून्यता, वल्कलवस्त्र धारण और जो कुछ मिलजाय उसीसे सन्तोष करना सीखे ॥ २५ ॥

भागवत शास्त्रमें श्रद्धा, अन्यशास्त्रोंकी निन्दा न करना, मन वाणी एवं कर्मों का संयम, सत्य, अन्तरिन्द्रिय तथा बहिरिन्द्रियोंका निग्रह करना सीखे २६

अद्भुत कर्मोंवाले भगवान्के अवतारों, लीलाओं एवं गुणोंका श्रवण-कीर्तन और ध्यान, उस भगवान्की प्राप्तिके लिये विविध चेष्टाएं सीखे ॥२७॥

यज्ञ, दान, तप, जप, सदाचार और भी जो-जो अपनेको प्रिय हो स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण आदि सबको परमेश्वरके अर्पण करना सीखे ॥ २८ ॥

इसी प्रकार कृष्णको ही स्वामी माननेवाले भक्त मनुष्यों से स्नेहभाव तथा भगवान्के स्थूल-सूक्ष्म दोनों रूपों में व भगवद्भक्तों तथा स्वधर्माचरणानुरागी मनुष्यों में पूजाभाव रखना सीखे ॥ २९ ॥

भगवान्के पवित्र यशका परस्पर संलाप, उसमें परस्पर प्रेम सन्तोष और उससे दुःखों की निवृत्तिको सीखे ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रवणादिरूप भक्तिसे जन्य जो प्रेम-लक्षणा भक्ति, उससे पापपुञ्जविनाशक हरिका स्मरण करते हुए और दूसरों को भी स्मरण कराते हुए पुलकित शरीरको धारण करते हैं ॥ ३१ ॥

उपायाः प्रथमस्कन्धे नारदेनोपवर्णिताः ।
सङ्क्षेपात्तानहं वक्ष्ये भूमिभेदविभागतः ॥३३॥
प्रथमस्महतां सेवा, तद्दयापात्रता ततः ।
श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु, ततो हरिगुणश्रुतिः ।।३४॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः, स्वरूपाधिगतिस्ततः ।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे, तस्याथ स्फुरणं ततः ।।३५।।
भगवद्धर्मनिष्ठाऽतस्स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता ।
प्रेम्णोऽथपरमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः ।।३६।।

(श्रीमद्भागवतके) प्रथम स्कन्धमें नारदने जिन उपायोंका वर्णन किया है संक्षेपसे उन्हीको भूमिकाओं के भेदसे मैं (प्रकृत ग्रन्थकार मधुसूदन सरस्वती) कहूँगा ।।३३।।

(१) सर्वप्रथम महापुरुषों की सेवा, (२) इसके बाद उनकी दयाका पात्र होना, (३) फिर उनके धर्मोंमें श्रद्धा, (४) तब भगवद्गुणश्रवण, (५) फिर भगवद्भक्तिमें रतिका अंकुरित होना, (६) तब स्वरूपको समझना, (७) इसके बाद परमानन्द रूप भगवान्में प्रेमका बढ़ना, (८) तदनन्तर भगवान्का दर्शन होना, (९) फिर भगवद्धर्मों में निष्ठा, (१०) भगवद् भक्तों के गुणों को अपनेमें लाना, (११) इसके बाद प्रेमकी पराकाष्ठा हो जाना, ये भक्तिकी भूमिकाएँ कही गयी हैं ।। ३४-३६ ।।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति नम (वद) न्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ।।३२।।
इति भागवतान्धर्मान्शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्[१] ।।३३॥ इति ।

अभिमान-शून्य होनेसे अलौकिक वे भक्त कभी भगवान्के चिन्तनसे रोते हैं, कभी हँसते हैं, प्रशंसा करते हैं, भगवन्नामों का उच्चारण करते हैं, गाते हैं, नाचते हैं, उस अजन्माका अनुशीलन करते हैं और आनन्दमें मग्न होकर परमात्माको प्राप्त हो मौन हो जाते हैं ।।३२।।

---

१. भा० ११ । ३ । ३१-३३

तस्मादेवंविधैश्शास्त्रीयैरुपायैर्मनश्शुद्धिं सम्पादयेदित्यर्थः ॥३२॥

शास्त्रीयानेवोपायान् प्रतिपन्नजनबुद्धिसौकर्यार्थं भूमिकाभेदेन वक्तुम्प्रतिजानीते--उपाया इति । स्पष्टम् ॥३३॥

तानेवाह प्रथममित्यादि । यथा व्यासनारदसंवादे नारदः--

अहं पुराऽतीतभवेऽभवम्मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ।२३।
ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाश्शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ।२४।
उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैस्सकृत् स्म भुञ्ज तदपास्तकिल्विषः ।
एवंप्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥२५॥
तत्राऽन्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाश्रृणवम्मनोहराः ।
ताश्श्रद्धया मेनुऽपदं विश्रृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ।२६।

इस प्रकार भागवत धर्मोंको सीखता हुआ भगवदाराधनामें तत्पर हुआ आराधना जन्य भक्तिसे अनायास ही उस दुस्तर मायाको तर जाता है॥३१॥

इसलिये इस प्रकारके शास्त्रीय उपायों से मनःशुद्धिको प्राप्त करे ॥३२॥

शास्त्रीय उपायोंको ही प्रतिपन्न (शिष्य व जिज्ञासु) जनोंकी सुविधा-पूर्वक ज्ञानके लिये भूमिकाभेदसे कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—उपायाः० । अर्थ स्पष्ट है ॥ ३३ ॥

उन्हीं उपायोंको कहते हैं—प्रथमम्०आदिसे । जैसे व्यास और नारदके सम्वादमें नारदने कहा है—

"हे मुने ! मैं पूर्व जन्ममें किसी दासीके गर्भसे उत्पन्न हुआ और बाल्या-वस्थामें ही वर्षाकालमें चातुर्मास्य विहार करते हुए वेदवेत्ता योगियोंकी सेवामें नियुक्त किया गया ॥ २३ ॥

यद्यपि वे योगीजन सर्वत्र समदर्शी थे तो भी उन्होंने चञ्चलतासे रहित, संयतेन्द्रिय, बाल्यक्रीड़ाओंमें आसक्तिहीन, अनुकूल स्वभाववाले, सेवापरायण और मितभाषी मुझ बालकपर विशेष कृपा की ॥ २४ ॥

उन ब्राह्मणोंकी आज्ञासे उनके पत्तलों में लगी जूठनको मैं एकाहारी होकर खा लेता था जिससे मेरे समग्र पाप नष्ट हो गये । ऐसा करते-करते निर्मल चित्तवाले मेरी उस भागवतधर्ममें ही रुचि होने लगी ॥ २५ ॥

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने (मते) प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
ययाऽहमेतत् सदसत् स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितम्परे।२७।
इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विश्रृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
सङ्कीर्त्यमानम्मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिःप्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा।२८।
तस्यैवम्मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥२६॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥३०॥
येनैवाहम्भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।
मायानुभावमविदं येन गच्छति तत्पदम् ॥३१॥
एतत् ससूचितं ब्रह्मस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥३२॥

वहाँ प्रतिदिन वर्णन करते हुए ऋषियोंकी कृपासे मैं भगवान्‌की मनोहर कथाओंको सुनता था। श्रद्धापूर्वक प्रत्येक पदको सुननेसे मेरी उसीमें अत्यन्त रुचि हो गई ॥ २६ ॥

हे महामुने! तब उस भगवान्‌में रुचि होनपर मेरी बुद्धि भी उसमें दृढ़ हो गई जिससे मैं सद् और असद् (इन सूक्ष्म और स्थूल शरीरों)को, आत्मरूप परब्रह्ममें अपनी मायासे कल्पित समझता था ॥ २७ ॥

इस प्रकार उन महात्माओं द्वारा गाये गये भगवान्‌के विमल यशको सुनते-सुनते वर्षा और शरद ऋतु बीत गई और आत्माकी राजस् तथा तामस प्रवृत्तियों का अन्त करनेवाली भक्ति मुझमें उत्पन्न हो गई ॥ २८ ॥

इस प्रकार अनुरक्त हुए मुझको विनीत, निष्पाप, श्रद्धायुक्त, नियतेन्द्रिय और अनुचर बालक समझकर दीनवत्सल वे मुनिगण, जाते समय वह गुप्त ज्ञान दे गये जो साक्षात् भगवान्‌ने कहा था ॥ २६-३० ॥

(ऋषियोंके बताये) जिस ज्ञानके प्रभावसे मैं जान गया कि 'विधाता रूप भगवान् वासुदेवकी मायाका कार्य ही यह जगत् है' यह जानकर ही लोग भगवान्‌के पदको प्राप्त करते हैं ॥ ३१ ॥

हे ब्रह्मन्! आपने जो जाननेकी इच्छा की थी वह आपको सूचित किया है जिससे ईश्वर ब्रह्मरूप भगवान्‌में कर्म समर्पण किया जाता है ॥ ३२ ॥

आमयो यश्च भूतानाञ्जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयद्रव्यन्न पुनाति, चिकित्सितम् ।।३३।।
एवं नृणां क्रियायोगास्सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ।।३४।।
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ।।३५।।
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत् ।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ।।३६।।
नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमस्सङ्कर्षणाय च ।।३७।।
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिरमूर्तिकम् ।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ।।३८।।
इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावश्च केशवः[1] ।।३९।।

हे सुव्रत ! प्राणियोंको जिस पदार्थसे जो रोग हो जाता है वही पदार्थ उस रोगकी दवा नहीं होता ।। ३३ ।।

इसलिये प्राणियोंकी सारी क्रियाओंकी योजनाएँ जन्म-मरणकी ही हेतु होती हैं । वे ही यदि परमेश्वरके अर्पण कर दी जाती हैं तो कर्मनिवृत्तिके लिये समर्थ हो जाती हैं ।। ३४ ।।

इस जगत्में जो कुछ भी कर्म किया जाय वह केवल भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये हो । क्योंकि भक्तियोगसे युक्त ज्ञान उसीके अधीन है ।।३५।।

भगवान्‌के आदेशानुसार कर्म करनेवाले वारबार उनके ही नामोंका कीर्तन और स्मरण करते हैं ।। ३६ ।।

हे भगवन् ! आपके लिये नमस्कार है । हम वासुदेवरूपसे आपका ध्यान करते हैं, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणरूप आपके लिये नमस्कार है ।।३७।।

जो पुरुष इस मूर्तिवाचक मन्त्रसे अमूर्तिक (अनिर्वचनीय स्वरूपवाले) और मन्त्रमूर्ति (मन्त्रस्वरूप) भगवान् यज्ञपुरुषका भजन करता है वही उत्तम द्रष्टा (विद्वान्) पुरुष है ।। ३८ ।।

---

१. भा० १।५।२३-३९

महत्सेवा द्विविधा—भगवद्भक्तसेवा साक्षाद्भगवत्सेवा च । तत्राद्या यथा—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवस्सुहृदस्साधवो ये ॥२॥
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके[1] ॥३॥

यथा—

प्रसङ्गमजरम्पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥२०॥

हे ब्रह्मन् ! अपने दिये हुए इस उपदेशको मेरे द्वारा अच्छी प्रकार आचरणमें लाया गया देखकर भगवान् केशवने मुझे ज्ञान दिया और ऐश्वर्यमय अपने स्वरूपको प्राप्त कराया ॥ ३९ ॥

[मूलकी ३४ वीं कारिकामें "नारदने भागवत प्रथम स्कन्धमें जो उपाय बताये हैं" ऐसा कहा था, इसलिये व्यास-नारदके उस प्रसङ्गको यहाँ उद्धृत कर दिया है । इसके बाद इसी कारिकाके उत्तरार्द्धमें "उन्हींको भूमिका भेदसे कहूँगा" कहकर आगे ११ भूमिकाएँ गिनाई हैं उनका दिग्दर्शन कराते हैं । आपाततः महत् सेवा सर्वप्रथम भूमिका है अतः उसीको कहते हैं—]

(१) महत्सेवा दो प्रकारकी है—भगवद्भक्तोंकी सेवा और साक्षात् भगवान्की सेवा । भगवद्भक्तोंकी सेवा जैसे—

"महापुरुषोंकी सेवाको ही विद्वानोंने मुक्तिका द्वार कहा है और स्त्रियोंमें आसक्त चित्तवाले व्यक्तियोंका सङ्ग नरकका द्वार कहा है । महापुरुष वे हैं जो समदर्शी, शान्त, क्रोध रहित, दयालु और परोपकारी होते हैं ॥२॥

अथवा महापुरुष वे हैं जो मुझ परमात्मामें प्रेम करना ही जीवनका लक्ष्य समझते हैं और केवल देहकी पुष्टिके लिये व्यवहार करनेवाले जनों तथा स्त्री पुत्र धन आदिसे युक्त गृहादिमें आसक्त नहीं रहते । लोक व्यवहार उतना ही करते हैं जितना आवश्यक है (अर्थात् जिससे भगवदाराधनामें बाधा नही पड़ती) ॥३॥ तथा—

विद्वानोंने अनुभव किया है कि आसक्ति ही आत्माके लिये ऐसा पाश है

---

१. भा० ५।५।२-३

तितिक्षवः कारुणिकास्सुहृदस्सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥२१॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिङ्कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥२२॥
मदाश्रयाः कथामृष्टाश्शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः ॥२३॥
त एते साधवस्साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्याः सङ्गदोषहरा हि ते[1] ॥२४॥

यथा—

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया[2] ॥१५॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानाङ्किमुताशिषः[3] ॥१३॥

जिसमें बँधा हुआ वह छूट नहीं सकता और वही आसक्ति यदि सत्पुरुषोंसे की जाय तो समझो मोक्षका द्वार खुल जाता है ॥२०॥

जो तितिक्षु (सुखदुःखादि द्वन्द्व-सहिष्णु), दयालु, सब प्राणियोंके मित्र, किसीसे शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्त, परोपकारी और सज्जनतासे विभूषित हैं, जो एकान्त भावसे मुझमें दृढ़ भक्ति रखते हैं और मेरेलिये सम्पूर्ण कर्मोंका और स्वजनों एवं बान्धवोंका भी त्याग कर देते हैं, जो मुझे ही अपना आधार मानकर मेरी कथाओंको सुनते हैं और कहते हैं, मुझमें ही निरन्तर चित्त लगे रहनेसे जिन्हें त्रिविध ताप संतप्त नहीं कर सकते—॥२१–२३॥

हे साध्वि ! सम्पूर्ण आसक्तिसे रहित ऐसे पुरुष ही साधु कहलाते हैं और तुम्हें ऐसे ही पुरुषोंके सङ्गकी प्रार्थना करनी चाहिये । क्योंकि वे सब आसक्ति जन्य दोषोंको नष्ट कर देते हैं ॥२४॥ तथा—

हे सूत गङ्गा तो जलमें स्नान करनेसे पवित्र करती है किन्तु भगवान्‌के चरणमें लवलीन और शान्तिका आश्रयण करनेवाले भक्तजन तत्काल समीपमें जानेसे ही पवित्र कर देते हैं ॥१५॥

---

१. भा० ३।२५।२०–२४, २. भा० १।१।१५, ३. भा० १।१८।१३,

तथा--

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ।।२९।।
अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गशेवधिर्नृणाम्[२] ।।३०।।

तथा—

न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ।।१।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गस्सर्वसङ्गापहो हि माम् ।।२।।
सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागास्सिद्धचारणगुह्यकाः ।।३।।

भगवद्भक्तोंसे क्षणभरके लिये भी जो सङ्ग होता हैं उसकी बराबरी न तो स्वर्गसे की जा सकती है न मोक्षसे, फिर मनुष्योंके राज्यादि ऐश्वर्योंकी तो बात ही क्या है ।।१३।।

तथा—यों तो प्राणियोंके लिये क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीर ही मिलना दुर्लभ है, उसमें भी भगवद्भक्तोंके दर्शनको मैं और भी दुर्लभ समझता हूं ।।२९।।

हे निष्पाप मुनिगण ! इसलिये मैं आपसे वास्तविक उस कल्याणको पूछता हूं जिससे बढ़कर दूसरा कल्याण नहीं होता । इस संसारमें आधे क्षणके लिये भी सज्जनोंका संग मनुष्योंके लिये एक निधिके समान है ।।३०।।

तथा—(भगवान्ने कहा—) सब प्रकारकी आसक्तियोंको हरनेवाला सज्जनोंका सङ्ग मुझे जिस प्रकार वशमें कर लेता है वैसे न तो योग मुझे वश कर सकता है, न सांख्य, न धर्म, न स्वध्याय, न तप, न त्याग, न यज्ञादि, न दक्षिणा, न व्रत, न वेद, न तीर्थ, न नियम और न संयम (कोई भी सत्सङ्गकी तरह मुझे वशमें नहीं कर सकता) ।।१–२।।

हे अनघ ! सत्सङ्गसे बहुतसे दैत्य, यातुधान, मृग, खग, गन्धर्व,

---

२. भा० ११।२।२९-३०

विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याश्शूद्रास्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् मुनेऽनघ ।
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ॥४॥

साक्षाद्भगवत्सेवा यथा—

वृषपर्वा वलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ।
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ॥५॥
व्याधः कुब्जा ब्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथा परे ।
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ॥६॥
अव्रतातप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः ॥७॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागास्सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥८॥
यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि[1] ॥९॥
मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।

अप्सराएं, नाग, सिद्ध, चारण, यक्ष, विद्याधर और मनुष्यों में भी वैश्य, शूद्र, स्त्रियां, चाण्डाल और भी बहुतसे राजस् और तामस् प्रकृतिके मनुष्य आदि उस सत्यादि युगोंमें मेरे पदको प्राप्त हुए हैं ॥३-४॥

साक्षात् भगवत्सेवा जैसे—

वृषपर्वा, वलि, वाण, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, ऋक्ष (जाम्बवान्), गज, गृध्र (जटायु), बनियां (तुलाधार), व्याध (धर्मनामका), कुब्जा, व्रजकी गोपियां, यज्ञपत्नियां तथा और भी बहुतसे लोग हैं जिन्होंने न शास्त्रोंका अध्ययन किया था न महान् पुरुषोंकी सेवा की थी, न व्रत किये थे, न तपस्याकी थी, केवल मेरे सम्पर्कसे प्राप्त हो गये ॥५–७॥

गोपियां, गौएं, वृक्ष, पक्षी, नाग, सिद्ध तथा और भी, मूढ़ बुद्धि होनेपर भी केवल भावमात्रसे अनायास मेरे लोकको प्राप्त हो गये ॥८॥

जिसे वे कभी भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास द्वारा प्रयत्न करनेपर भी न पा सकते ॥९॥

मेरे वास्तविक स्वरूपको न जानती हुई भी मुझे चाहती हुई सैकड़ों

---

1 भा० ११।१२।१-९

ब्रह्म माम्परमम्प्रापुस्सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥१३॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनाम्प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥१४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः[1] ॥१५॥

तदयमत्र निष्कर्षः—भगवत्सङ्गं वा भगवत्सङ्गिसङ्गं वा यथा-योग्यमन्तरेण न भगवति भक्तिरुदेति। एतावांस्तु विशेषः—भगवत्स-ङ्गिनां कृतार्थत्वान्नान्यसङ्गापेक्षा। भगवत्सङ्गिसङ्गिनान्तु विद्यत एव फलतया भगवत्सङ्गापेक्षेति व्याख्याता द्विविधा महत्सेवा।

(२) तद्दयापात्रता ततः। तेषाम्—महतां दया स्वविषया स्वकीयै-स्सुशीलतादिगुणैर्भवति। ते च गुणा भगवतोक्ताः—

हजारों अबलाए जारवत् रमण करनेवाले मेरे संसर्गसे परब्रह्मरूप मुझे प्राप्त हो गई ॥१३॥

इसलिये हे उद्धव! चोदना (श्रुति) और प्रतिचोदना (स्मृति), प्रवृत्ति और निवृत्ति, सुनने योग्य या सुने हुए सारे विषयोंको छोड़कर सब प्राणियोंके एकमात्र रक्षक आत्मस्वरूप मुझको सर्वात्मभावसे (सब कुछ मुझे ही समझकर) प्राप्त हो जाओ। मेरी शरणमें आनेसे निर्भय हो जाओगे ॥ १४-१५ ॥

इसका सारांश यह है कि साक्षात् भगवान्का सङ्ग किये विना अथवा भगवद्भक्तोंका सङ्ग किये विना भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं होता (दोनोंमें से एकका सङ्ग करना ही पड़ता है) अन्तर केवल इतना है कि साक्षात् भग-वान्का सङ्ग करने वालोंको किसी दूसरे सङ्गकी अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि वे कृतकृत्य हो जाते हैं किन्तु भगवद्भक्तोंका सङ्ग करने वालोंको फलरूपसे भगवत्सङ्गकी अपेक्षा रहती है। [अर्थात् एक भगवत्प्राप्तिका साक्षात्साधन है दूसरा परम्परासे] इस प्रकार दो प्रकारकी महत्सेवा नामक प्रथम भूमिकाकी व्याख्या हुई।

(२) इसके बाद उनकी दयाका पात्र होना (दूसरी भूमिका है)। उनकी अर्थात् महापुरुषोंकी दया साधकके अपनेमें स्थित सुशीलता आदि गुणों से होती है। वे गुण भगवान्ने कहे हैं—

1. भा० ११।१२।१३-१५

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुस्सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥२९॥
कामैरहृतधीर्दान्तो मृदुश्शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः[1] ॥३१॥

तथा--

मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ।
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ॥५॥
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ।
जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ॥६॥
उदासीनस्समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः[2] ॥

इत्यादि । उदाहरणं प्रह्लादः । यथा—

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषाङ्गुणैर्महदुपासकः ॥३०॥

जो सब प्राणियोंमें दया करनेवाला, किसीसे द्रोह न करनेवाला, तितिक्षु, सत्यनिष्ठ, निर्दोष, समदर्शी, सबका उपकार करनेवाला, विषयोंसे जिसकी बुद्धि नष्ट न हुई हो, दान्त (जितेन्द्रिय) कोमल स्वभावका, पवित्र आचरण-वाला, किसी प्रकारका परिग्रह न करनेवाला, निरीह, मिताहारी, शान्त, स्थिरबुद्धि, मुझे ही अपना रक्षक समझने वाला, मननशील, अप्रमत्त (साव-धान) गम्भीर आत्मावाला (निर्विकार), धैर्यवान्, ६ गुणों (भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्यु)को जिसने जीत लिया है ऐसा, अहङ्कार रहित, दूसरोंका आदर करनेवाला, अवचक, दयालु और तत्त्वज्ञ है (वही श्रेष्ठ मेरा भक्त हो सकता है) ॥ २९-३१ ॥

तथा— मान और मत्सरसे रहित हुआ, कुशल, ममतासे रहित, दृढ़भवित, स्थिर बुद्धिवाला, अर्थको जाननेकी इच्छावाला, ईर्ष्यारहित, सत्यवक्ता, स्त्री पुत्र गृह खेत स्वजन धन आदिमें आसक्ति न रखता हुआ, आत्मवत् सभी पदार्थोंमें समान दृष्टि रखनेवाला साधक मुझे जाननेवाले, शान्त, मत्स्वरूप ही गुरुकी उपासना करे ॥५-७॥ इत्यादि ।

---

१. भा० ११।११।२९-३१ २. भा० ११।१०।५-७

ब्रह्मण्यश्शीलसम्पन्नस्सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।
आत्मवत् सर्वभूतानामेकः प्रियसुहृत्तमः ॥३१॥
दासवत् सन्नतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः ।
भ्रातृवत् सदृशो स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनाः ।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥३२॥

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहश्श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् ।
दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीस्सदा प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः[1] ॥

एतादृशशिष्यगुणाभावे तु जातोऽपि महत्तमसङ्गो निरर्थक इति तद्दयापात्रता भवति द्वितीया भूमिका । सापि द्विविधा–स्वप्रयत्नानपेक्षा तत्सापेक्षा च । तत्राद्या यथा—

इसमें उदाहरण स्वरूप प्रह्लाद है । जैसे–उस दैत्यपति (हिरण्यकशिपु)के परम अद्भुत चार पुत्र थे । उनमें भी प्रह्लाद अत्यन्त गुणी और उपासक था ॥

वह ब्राह्मणभक्त, शीलवान्, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सब प्राणियों को आत्मवत् देखनेवाला, प्राणियों का एकमात्र प्रिय और श्रेष्ठ मित्रके समान, पूज्यजनों के सामने दासभावसे रहनेवाला, दीनों पर पिताकी तरह दया करनेवाला, सबसे भाईकी तरह स्नेह करनेवाला, गुरुओं में ईश्वरभाव रखनेवाला, जन्मसे ही विद्या, रूप और गुणों का धनी तथा अभिमान और दम्भसे रहित था ॥ ३१-३२ ॥

उसका चित्त उद्विग्न न होता था, किसी प्रकारके व्यसनों में वह आसक्त न था, सम्पूर्ण दृष्ट या श्रुत विषयों को मिथ्या समझता हुआ इन्द्रिय, प्राण, शरीर और बुद्धिको वश किया हुआ, शान्तचित्त वह असुर होनेपर भी आसुर भावसे रहित था ॥ ३३ ॥

इस प्रकारके गुण यदि साधकमें न हुए तो महापुरुषों का सङ्ग होनेपर भी वह उससे कुछ लाभ नहीं उठा सकता । इसलिये महापुरुषों की दयाका पात्र होना यह दूसरी भूमिका है । वह भी दो प्रकारकी होती है । १—वह जिसमें अपने प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं होती । २—वह जो स्वप्रयत्न सापेक्ष होती है ।

[इसको दूसरे शब्दों में गुरुप्रेरित और आत्मप्रेरित कहा जा सकता है ।

---

१. भा० ७।४।३०-३३

तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥२५॥
स तान् प्रपन्नार्तिहरो भगवान्धर्मवत्सलः ।
धर्मज्ञाञ्छीलसम्पन्नान् प्रीतान् प्रीत उवाच ह ॥२६॥

श्रीरुद्र उवाच—

यूयं वेदिषदः पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम् ।
अनुग्रहाय भद्रं व एवम्मे दर्शनं कृतम् ॥२७॥
यः परं रंहसस्साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञिताम् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नस्स प्रियो हि मे ॥२८॥
स्वधर्मनिष्ठश्शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतम्भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाऽहं त्रिबुधाः कलात्यये ॥२९॥

प्रयत्न तो साधकको ही करना पड़ता है किन्तु जिस प्रयत्नको करनेकी प्रेरणा गुरुओं (भगवद्भक्तों) से प्राप्त होती है वह गुरुप्रेरित या स्वप्रयत्नानपेक्ष है और जिसमें बिना किसीकी प्रेरणाके साधक अपने ही प्रयाससे महापुरुषोंकी दयाका पात्र बन जाता है वह स्वप्रयत्न सापेक्ष है ।]

उनमें प्रथम (स्वप्रयत्नानपेक्ष) जैसे—

[पिताकी आज्ञासे तपश्चर्यार्थ पश्चिमदिशाको जाते हुए प्राचेतसोंने एक विशाल सरोवर देखा और उसी समय उस सरोवरसे अपने अनुचर देवताओं द्वारा स्तुति किये गये तथा—] तप्तसुवर्णसी कान्तिवाले, नीलकण्ठ त्रिलोचन भगवान् शिवजीको जाते देखा । उन्हें प्रसन्न मुख देखकर आश्चर्ययुक्त प्राचेतसोंने प्रणाम किया ॥ २५ ॥

तब दीनबन्धु, धर्मवत्सल, भगवान् शिवने प्रसन्न होकर कर्मको जाननेवाले, शील सम्पन्न हुए उन प्राचेतसोंसे कहा—॥२६॥

रुद्रने कहा—

तुम लोग वेदिषद् (राजा प्राचीनबर्हि) के पुत्र हो । मैंने भगवद्भजनरूप तुम्हारा कार्य जानलिया । तुम लोगोंके कल्याणके लिये ही यह मेरा दर्शन तुम्हें हुआ है ॥२७॥

जो व्यक्ति त्रिगुणात्मिका प्रकृति और जीव नामक तत्त्वसे भी पर साक्षात् भगवान् वासुदेवको प्राप्त हो जाता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥२८॥

अथ भागवता यूयं प्रियाःस्थ भगवान् यथा ।
न मद्भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥३०॥
इदं विविक्तञ्जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।
निःश्रेयसकरञ्चापि श्रूयतां तद्वदामि वः ॥३१॥
इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह ताञ्छिवः ।
बद्धाञ्जलीन्राजपुत्रान्नारायणपरो वचः[1] ॥३२॥
इत्यादौ रुद्रप्राचेतससंवादे । यथा वा—
'ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके'[2] इत्यत्र ।
स्वप्रयत्नापेक्षा यथा ध्रुवनारदसंवादे—
ध्रुवः—सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम् ।
दर्शितः कृपया पुंसां दुदर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥३५॥

हे ज्ञानियों! पुरुष सैकड़ों वर्षोंतक अपने धर्ममें निष्ठावान् रहकर तब ब्रह्माके पदको प्राप्त होता है और उससे भी श्रेष्ठ कर्मोंसे तब मेरा पद प्राप्त होता है किन्तु भगवत्भक्त तो भगवान् विष्णुके उस अव्याकृत (जिसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती) पदको शरीर छूटते ही ऐसे प्राप्त हो जाता है जैसे मैं अन्तमें उस पदमें लीन होता हूँ ॥२९॥

चूंकि आप लोग भगवान्के भक्त हैं इसलिये मुझे उतने ही प्रिय हैं जितने कि साक्षात् भगवान् । मुझे भगवद्भक्तोंसे अधिक प्रिय और कोई नहीं ॥३०॥

इसलिये यह एकान्तमें जपने योग्य, पवित्र, मङ्गल और परम कल्याण-कारक जपको मैं तुम्हें बताता हूं, सुनो ॥३१॥

इस प्रकार कृपालु शिवजीने हाथ जोड़कर खड़े हुए उन राजपुत्रोंसे नारायणपरक वाक्य कहे—॥३२॥

इत्यादि रुद्र और प्राचेतसोंके सम्वादमें [रुद्रकी प्रेरणासे प्राचेतसोंमें दयापात्रता दीखती है] अथवा "बालसुलभ चंचलतासे रहित मुझपर वे [मुनिगण प्रसन्न हो गये, इस पूर्वोक्त नारदवाक्यमें मुनियोंके प्रयत्न (प्रेरणा) से नारदमें दयापात्रता दीखती हैं ।]

स्वप्रयत्न सापेक्षा जैसे ध्रुव और नारदके सम्वादमें ध्रुवने कहा है—

---

१. भा० ४।२४।२५-३२, २. भा० १।५।२४

अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रङ्घोरमुपेयुषः ।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥३६॥
पदं त्रिभुवनोत्कृष्टञ्जिगीषोस्साधुवर्त्म मे ।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥३७॥
नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः ।
वितुदन्नटते वीणां हिताय जगतोऽर्कवत् ॥३८॥
मैत्रेयः—इत्युदीरितमाकर्ण्य भगवान्नारदस्तदा ।
प्रीतः प्रत्याह त बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥३९॥
श्रीनारदः—जनन्याऽभिहितः पन्थास्स वै निःश्रेयसस्य ते ।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥४०॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥४०॥

आपने कृपा करके यह सुख-दुःखादिसे प्रताड़ित चित्तवाले पुरुषोंके लिये शान्तिका मार्ग बताया है किन्तु मुझ जैसोंके लिये तो वह अत्यन्त कठिन ही है ॥३५॥

आपके बताने पर भी यह शान्तिका उपाय दुर्विनीत क्षात्र धर्म में रत और सुरुचिके दुर्वचन रूप वाणोंसे विंधे मेरे चित्तमें बैठता नहीं ॥३६॥

हे ब्रह्मन् ! मेरे पूर्वज या अन्य कोई भी व्यक्ति जहाँतक नहीं पहुँच पाया ऐसे त्रिभुवनके सर्वोत्कृष्ट पदको जीतनेकी इच्छावाले मुझको उचित मार्ग बताइये ॥३७॥

निश्चय ही आप भगवान् ब्रह्माके पुत्र होकर भी अपनी वीणा बजाते हुए; सूर्यकी तरह संसारके कल्याणके लिये घूमते रहते हैं ॥३८॥

ऐसे वचन सुनकर तब भगवान् नारद प्रसन्न हुँए और दयावश उस बालक ध्रुवको प्रेमपूर्वक बोले—॥३९॥

नारदने कहा--

तुम्हारी माता (सुमति) ने जो मार्ग तुम्हें बताया है वही तुम्हारे लिये कल्याणकारक है। तुम एकनिष्ठ होकर भगवान् वासुदेवका भजन करो ॥४०॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमेंसे किसी भी श्रेयको जो अपने लिये चाहे उसकी प्राप्तिका मार्ग केवल भगवान्की चरणसेवा ही है ॥४१॥

तत्तात गच्छ भद्रन्ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्य मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः[1] ॥ इत्यादि ।

(३) श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु । पूर्वोक्तगुणसम्पन्नस्य महत्तमान् सेवमानस्यैतादृशधर्मानुष्ठानादहमपि कृतार्थो भवेयमिति रुचिविशेषरूपा श्रद्धा तद्धर्मेषु भवति । तदुक्तम्—

यदनुध्याऽसिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम् ॥१५॥
शुश्रूषोश्श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्[1] ॥१६॥
ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र-
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिन्न कुर्यात्[2] ॥१२॥

अतः हे प्रिय ! तुम्हारा भला हो, तुम यमुनाके पवित्र तटपर वसे पुण्यस्थान मधुवनमें जाओ जहाँ नित्य ही भगवान्का वास रहता है ॥४२॥

(३) इसके बाद उन (महापुरुषों)के धर्मोंमें श्रद्धा होती है। द्वितीय भूमिकामें कहे गये गुणोंसे युक्त और महापुरुषोंकी केवा करते हुए जब पुरुष उनकी दयाका पात्र हो जाता है तब "ऐते धर्मोंका आचरण करके मैं भी कृतार्थ होऊँ" इस प्रकारकी विशेष रुचिरूप श्रद्धा उनके धर्मों (अर्थात् भागवत धर्मों) में होती है। इसलिये कहा है—

जिस भगवान्के ध्यानरूप खड्गसे युक्त, विवेकी पुरुष कर्मोंकी ग्रन्थिरूप बन्धनको काट डालते हैं, उसकी कथामें कौन प्रेम नहीं करेगा ॥१५॥

हे विप्रो ! पुण्यतीर्थोंके सेवनसे मनुष्यके पाप नष्ट होते हैं और वह महापुरुषोंकी सेवा करने लगता है। उस सेवासे उसकी धर्ममें श्रद्धा होती है और उस श्रद्धासे भगवान्की कथामें रुचि होती है ॥१६॥

गुणसे जन्य लहरोंके समान क्रोधादिको शान्त करनेवाला आत्मज्ञानका प्रकाश करनेवाला, गुणोंसे आसक्तिको छुड़ानेवाला, मोक्षका निश्चित मार्ग

---

१. भा० ४।८।३५-४२ २. भा० १।२।१५-१६, ३. भा० २।३।१२

इत्यादि। हरिकथापदमन्येषामपि भागवतधर्माणामुपलक्षणम्। यथाऽह ब्रह्मा--

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्[1] ॥३०॥

इत्यत्र पादसेवनम्। एवमन्यदप्यूह्यम्। इयञ्च श्रद्धा साधनपरिपाकेण वर्धमानैहिकामुष्मिकसर्वविषयारुचिमुपजनयन्ती बुभुक्षेव भक्ष्यमात्रैकशरणां भगवद्धर्माचरणैकजीवनं पुरुषमापादयति। यथा परीक्षितः—

नैषाऽतिदुस्सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्[2] ॥१३॥

इत्यादिभ्यः। यथा वा शौनकादीनाम्--

रूप भक्तियोग है इसलिये कौन विरक्त पुरुष भगवान्‌की कथामें प्रेम न करेगा ? ॥१२॥ इत्यादि ॥

यहाँ पर हरिकथा कहनेसे अन्य भागवतधर्मोंका भी ग्रहण हो जाता है। जैसा कि ब्रह्माने कहा है—

(आपकी भक्ति न होनेसे पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती अतः) हे नाथ ! इस (ब्रह्म) जन्ममें अथवा कर्मवशात् प्राप्त होनेवाले पशु पक्षी आदि जन्मोंमें भी मुझे वह सौभाग्य प्राप्त होवे जिससे आपके भक्तजनोंमेंसे कोई एक होकर मैं आपके चरणपल्लवोंकी सेवा कर सकूं ॥३०॥

इसमें पादसेवन कहा गया है। इसी प्रकार अन्य भी समझना चाहिये। यह श्रद्धा साधनोंके परिपाकसे बढती हुई, ऐहलौकिक और पारलौकिक सम्पूर्ण विषयोंमें अरुचि उत्पन्न करती हुई, जैसे भूख मिटानेका एकमात्र उपाय भोजन है वैसे ही पुरुषको भागवत धर्मोंका आचरण ही एकमात्र जिसका जीवन है, ऐसा बना देती है। जैसा कि परीक्षितने कहा है—

यद्यपि मैंने जल भी ग्रहण न करनेका संकल्प किया है किन्तु आपके मुखारविन्दसे निकले हरिकथारूप अमृतको पीते हुए भी यह (पुनः कथामृत पान करनेकी) भूख असहनीय होकर मुझे सता रही है ॥३०॥ इत्यादि श्लोकोंसे। अथवा जैसे शौनकादिका कथन है—

---

१. भा० १०।१४।३०, २. भा० १०।१।१३

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत् क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया[1] ॥१७॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥२०॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥२१॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणान्तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥२२॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुन्न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याश्श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥२३॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलङ्गात्ररुहेषु हर्षः ॥२४॥

यह सूर्य उदय और अस्त होता हुआ मनुष्योंकी आयुको हरता जा रहा है । इसमें वही क्षण सफल है जो पुण्यश्लोक भगवान्के गुणगानमें लगा है ॥१७॥

हे सूत ! मनुष्यके जो कान भगवान्के पराक्रमोंको नहीं सुनतु वे बिलके समान कोटर मात्र हैं और जो जिह्वा भगवत्कथाओंका कीर्तन नहीं करती वह भी मेंढककी भाँति व्यर्थ ही टर् टर् करनेवाली है ॥२०॥

किरीट उष्णीष आदिसे सुशोभित भी वह मस्तक भारस्वरूप ही है जो मुकुन्दको प्रणाम करने नहीं झुकता और सोनेके कंकण आदिसे विभूषित होनेपर भी वे हाथ मुर्देके हाथसे हैं जो भगवान्की पूजा नहीं करते ॥२१॥

वे आँखें मोरपंखमें बनी आँखके समान केवल दिखाऊ हैं जो भगवान्के स्वरूपोंका दर्शन नहीं करतीं और वे पैर भी वृक्षके तने जैसे ही हैं जो भगवान्के तीर्थोंकी यात्रा नहीं करते ॥२२॥

वह मनुष्य जीते जी मुर्दा ही है जिसने भगवच्चरणोंकी धूलि माथेपर नहीं लगाई और भगवत्पादार्पित तुलसीकी गन्ध नहीं सूंघी ॥२३॥

यह समझो कि वह हृदय निरा पत्थर ही है जिसमें भगवान्के नाम-श्रवणपर भावाभिनत हो रोमांचित हो जाना और आँखोंसे आनन्दाश्रु निक-

---

१. भा० २।३।१७, २. भा० २।३।२०-२४

इत्यादि। श्रद्धाविहीनास्तु केचिद्विषयभोगपराः। केचित् पाण्डित्यादिगर्वेण भगवद्भक्तनिन्दापरास्सन्तो निरयेऽपि निन्दनीया एव भवन्ति। तत्र प्रथमे यथा--

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
ञ्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमस्सु हन्त[1] ।।२३।।
तरवः किन्न जीवन्ति भस्त्राः किन्न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ।।१८।।
श्व-विड्वराहोष्ट्र-खरैस्संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतञ्जातु नाम गदाभृतः[2] ।।१९।।

इत्यादि। भगवद्भक्तनिन्दापरा यथा--

लना --ये विकार नहीं होते ।।२४।। इत्यादि।

जिनकी भागवतधर्मोमें श्रद्धा नहीं होती उनमें कुछ तो विषयभोगोंमें लिप्त रहते हुए नरकमें भी निन्दनीय होते हैं। उनमें प्रथम (विषयभोगपरक) जैसे-

जो मनुष्य पापोंके नाशक भगवान्की लीलाकथाओंको छोड़कर अन्य असार, बुद्धिको नष्ट करनेवाली केवल अर्थ काम-संबन्धिनी बातो को सुनते हैं, खेद है कि वे बातें उन्हें घोर नरकमें डालनेवाली होती हैं, वे अभागे कभी वैकुण्ठको नहीं प्राप्त कर सकते ।।२३।।

क्या वृक्ष जीवित नहीं रहते ? क्या मशकें श्वास नहीं लेतीं ? क्या अन्य पशु भी खाते नहीं ? और मलमूत्र विसर्जन नहीं करते ?

[हरिभक्तिहीन पुरुष भी वृक्षो की भाँति जीवित रहता है, मशककी श्वास लेता अन्य पशुओ की भाँति खाता और मलत्याग करता है। आखिर इनमें और उसमें अन्तर ही क्या है यदि वह भगवद्भजन नहीं करता] ।।१८।।

कुत्ता, ग्राम शूकर, ऊँट, गधा इन्हींके समान पशु वह पुरुष भी है जिसके कर्ण विवरमें कभी भगवान् गदाधरका नाम नहीं गया ।।१९।। इत्यादि।

भगवद्भक्तोंकी निन्दा करनेवाले जैसे--

---

१. भा० ३ १५।२३, २. भा० २।३।१८-१९,

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैस्सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक ॥२॥
य एषाम्पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥३॥
दूरे हरिकथाः केचिद्दूरेचाच्युतकीर्तना ।
स्त्रियश्शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्[१] ॥४॥
रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥७॥

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं वृत्त्यै परङ्घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥
श्रिया विभूत्याऽभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियस्सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥

(चमसने कहा—) भगवान्के मुख, बाहु, ऊरु और पैरोंसे चार आश्रमोंके सहित गुणोंके अनुसार पृथक् पृथक् चार ब्राह्मणादि वर्ण क्रमशः उत्पन्न हुए (अर्थात् मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए) हैं। अपने साक्षात् उत्पत्ति स्थान परमपुरुष भगवान्का भजन जो नहीं करते और उनकी अवहेलना करते हैं वे अपने पथसे भ्रष्ट होकर नरकमें गिरते हैं ॥२-३॥

भगवान्की कथा जिनसे दूर है और भगवत्कीर्तन जिनसे दूर है ऐसे तथा स्त्री शूद्र वैश्य आदि भी आप जैसे ज्ञानियों द्वारा दयाके पात्र हैं ॥४॥

रजोगुणसे आक्रान्त होकर घोर कर्मोंमें रत हुए, कामुक, सर्पकी तरह क्रोधसे भरे, पाखण्डी, अभिमानी पापी जन भगवद्भक्तोंका उपहास करते हैं ॥७॥

स्त्रियोंमें आसक्त हुए वे जन मैथुन-प्रधान गृहों (वेश्यालयों) में परस्पर अभिलाषोंका वर्णन करते हैं, हिंसादि दोषोंसे अनभिज्ञ होकर अन्न-दानदक्षिणा आदि विधियोंसे हीन यज्ञ करते हैं और आजीविकाके लिये पशुओंका वध करते हैं ॥८॥

सम्पत्ति, ऐश्वर्य, कुलीनता, विद्या, त्याग, रूप, बल और यज्ञादि करनेसे

१. भा० ११।५।२-४

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतञ्च न शृण्वतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया[1] ॥

हित्वाऽत्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः[2] ॥१८॥

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।
श्रुतधनकुलकर्मणाम्मदैर्ये विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु[3] ॥२१॥

एवमन्यदप्यूहनीयम् । तस्माद्भगवद्धर्मश्रद्धा भवति तृतीया भूमिका । (४) ततो हरिगुणश्रुतिः । यथा—

इत्थं परस्य निजधर्मरिरक्षयात्तलीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥

उत्पन्न हुए घमण्डसे विवेकशून्य जैसे ये शठ भगवान्‌के सहित भगवद्भक्तोंकी अवहेलना करते हैं ॥९॥

आकाशकी भांति सब प्राणियोंमें आत्मरूपसे व्याप्त, वेदोंमें वर्णित सर्व-पुरुषार्थरूप ईश्वरको वे मूर्ख नहीं सुनते । स्त्री, मांस, मद्यादि असत् मनोरथों की ही चर्चा करते हैं ॥१०॥

भगवान्‌से विमुख हुए ये मूर्ख, अत्यन्त क्लेशसे जोड़े हुए गृह, पुत्र, मित्र सम्पत्ति आदिको छोड़कर इच्छा न रहते हुए भी घोर नरकमें प्रवेश करते हैं ॥१८॥

भगवान्‌को निर्धन (संसार रूप धनसे रहित) और आत्मधन (केवल आत्मा=भगवान् ही जिनका धन है ऐसे भक्त) ही प्रिय हैं । ऐसे रसिक भगवान् उन दुर्बुद्धियों द्वारा की हुई पूजाको जो कि विद्या, धन, कुल अथवा कर्मोंके मदसे चूर होकर अकिंचन साधुओंका तिरस्कार करते हैं—कभी स्वीकार नहीं करते ॥२१॥

इस प्रकार और भी उदाहरण समझने चाहिये । इसलिये भगवद्धर्ममें श्रद्धा तीसरी भूमिका है ।

(४) इसके बाद भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करना (यह चौथी भूमिका है) जैसे—

इस प्रकार स्वधर्मकी रक्षा करनेकी इच्छासे लीलाशरीर धारण करने-

---

१. भा० ११।५।७-१०, २. भा० ११।५।१८, ३. भा० ४।३१।२१

मर्त्यस्तयाऽनुसवमेधितया मुकुन्दश्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः[१] ॥
संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यःप्लवो भगवतःपुरुषोत्तमस्य ॥
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य[२] ॥
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्[३]॥४॥
हरिगुणश्रुतिरिति कृत्स्नभागवतधर्मोपलक्षणम् । तथा च—
को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः[४] ॥२॥

वाले, यदुश्रेष्ठ, भगवान् श्रीकृष्णके अवतारानुरूप विडम्बनाओंवाले ऐसे कर्मोंको, जिनका श्रवण करनेसे दूसरोंके कर्म समाप्त हो जाते हैं, भगवान्के चरणोंमें लीन होनेकी इच्छावाला व्यक्ति अवश्य सुने ॥४६॥

भगवान् मुकुन्दकी उत्तम कथाके श्रवण, कीर्तन और चिन्तनके निरंतर बढ़नेसे मनुष्य भगवान्के उस परमपदको प्राप्त होता है जहां यमराज नहीं पहुँच सकता और जिस मोक्षकी प्राप्तिके लिये राजालोग भी अपना राज्य छोड़कर जंगलोंमें चले जाते थे ॥५०॥

संसाररूप अति दुस्तर समुद्रको तरनेकी इच्छा करते हुए तथा विविध दुःख रूप दवानलसे सताये हुए पुरुषके लिये भगवान् पुरुषोत्तमकी लीलाओं-कथाओंके रसको सेवन करनेके सिवा दूसरा कोई प्लव (पार करनेका साधन) नहीं है ॥४०॥

जिनकी तृष्णा शान्त हो गई है (निष्काम) ऐसे भक्तोंसे गाये गये संसाररूप रोगकी अचूक औषधि, कानों और मनको प्रिय लगनेवाले, पुण्य-श्लोक भगवान्के गुणानुवादसे कौन पुरुष विरक्त होगा सिवा पशुवध करने वालोंके [इसका तात्पर्य मीमांसकोंसे है जो यज्ञादि कर्मको ही प्रधान मानते हैं] ॥४॥

हरिगुणश्रुति कहनेसे सम्पूर्ण भागवत धर्मोंका ग्रहण समझना चाहिये । जैसे कि कहा है—

---

१. भा० १०।९०।४९-५०, २. भा० १२।४।४०, ३. भा० १०।१।४, ४. भा० ११।२।२,

तच्च भजनं विवृतम्—

श्रवणङ्कीर्तनं विष्णोःस्मरणम्पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥२३॥
इति पुंसार्ऽपिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्[१] ॥२४॥

तदेवं सङ्क्षिप्तम्—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्[२] ॥५॥

क्रमेणोदाहरणम्—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तश्श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा मतोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥४७॥

हे राजन् चारों ओर मृत्युसे घिरा हुआ कौनसा चेतन प्राणी होगा जो, कभी मृत्युको न प्राप्त होनेवाले उत्तम देवताओं द्वारा उपास्यमान भगवान् मुकुन्दके चरणोंका भजन न करे ।।२।।

इस भजनका विवरण इस प्रकार किया है—

भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, यह नौ प्रकारकी भक्ति जिस पुरुषसे श्रद्धापूर्वक भगवान्‌में की जासकी मैं समझता हूं यह सर्वोत्तम शिक्षा है ।।२३-२४।।

इसीको संक्षेपसे इस प्रकार कहा है—

हे भारत ! इसलिये अभय चाहनेवालेको सर्वात्मा, सर्वेश्वर, भगवान् कृष्णका श्रवण करना चाहिये, कीर्तन करना चाहिये और स्मरण करना चाहिये ।।५।।

क्रमसे उदाहरण देते हैं —

[श्रवणका उदाहरण पूर्वोक्त श्लोक "श्रोतव्यः" है, आगे कीर्तनका उदाहरण देते हैं—]

अच्छीप्रकार कीर्तन किये जानेपर भगवान् अनन्त प्राणियोंके हृदयमें प्रवेश करके उनके समस्त कष्टोंको ऐसे नष्ट कर देते हैं जैसे सूर्य अन्धकारको अथवा वायु बादलोंके समूहको नष्ट कर देता है ।।४७।।

---

१. भा० ७।५।२३-२४, २. भा० २।१।५

मृषागिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥४८॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥४९॥
न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥५०॥
स वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानियच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः[१]।५१।
यशश्श्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपश्श्रुतादिषु ।
अविस्मृतिश्श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥५३॥

जिस वाणीमें भगवान् कृष्णका चिन्तन नहीं वह मिथ्या है, जिसकथामें उनकी चर्चा नहीं वह अपवित्र है, सत्य, मङ्गलकारी, एवं पुण्यदायक वही कथा है जिसमें भगवद्गुणोंका वर्णन किया गया हो ॥४८॥

वही परम रमणीय और क्षण-क्षणमें नवीन है, वही मनको बार-बार अत्यन्त आनन्द देनेवाला है और वही मनुष्योंके शोकरूप समुद्रको सुखानेवाला है जिसमे पुण्यश्लोक भगवान्का यश गाया जाता है ॥ ४९ ॥

विचित्र पदवाक्योंसे युक्त होनेपर भी वह वाणी वाणी नहीं कही जा सकती जिसमें कभी भगवान्का पवित्र यश न गाया गया हो और उसे काकतीर्थ (छिछला गढ़ा जिसमें कौवे नहाते हों, अर्थात् क्षुद्र विषयसेवियोंका आश्रयभूत) ही समझना चाहिये । हंसतीर्थ (अगाध मानससरोवर अर्थात् शुद्ध अन्तः करणवालोंका आश्रय) नहीं, क्योंकि जहाँ भगवान् कृष्ण रहते हैं (अर्थात् भगवान्का भजन होता है) वहीं निर्मल अन्तःकरणवाले साधु रहते हैं ॥ ५० ॥

वाणीका वह विसर्जन जनसमूहके पापोंका नाश करनेवाला होता है जिसमें प्रत्येक श्लोकमें छन्दगत दोष होनेपर भी भगवान् अनन्तके यशोंसे चिह्नित वे नाम होते हैं जिन नामोंको सज्जन लोग सुनते हैं गाते हैं, और मनन करते हैं ॥ ५१ ॥

[स्मरणका उदाहरण—] वर्णों व आश्रमोंके धर्म, तपस्या, वैदिक

---

१. भा० १२।१२।४७-५१,

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमन्तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिम्परमात्मभक्तिं ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्[१] ॥५४॥
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किन्त्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः[२] ॥११॥
दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिस्स्यात्[३] ॥१८॥
तन्नस्समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह[४] ॥१५॥
तस्माद्रजोरागविषादमन्युमानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम्।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं नृसिंहपादम्भजताकुतोभयम्[५] ॥ इति।

अनुष्ठान आदि में परिश्रम करनेसे अत्यन्त यश या लक्ष्मी प्राप्त हो सकती है किंतु भगवान् श्रीधरके चरणारविन्दोंकी अविस्मृति (उन्हें कभी न भूलना) तो उनके गुणानुवादका श्रवण और कीर्तन करनेसे ही प्राप्त होती है ॥ ५३ ॥

भगवान् कृष्णके चरणारविन्दोंकी अविस्मृति तो अकल्याणोंका नाश करती है कल्याणोंकी वृद्धि करती हैं, अन्तः करणकी शुद्धि, परमात्मामें भक्ति, वैराग्य युक्त ज्ञान और विज्ञानको बढ़ाती है ॥ ५४ ॥

[पाद सेवनका उदाहरण—] अर्थ-कामका सेवन करने वालोंके तो पूरे मनोरथ सिद्ध भी नहीं हो पाते किन्तु भगवान्‌के चरण-कमलका सेवन करने वालोंको भगवान् स्वय अपनेको भी सौंप देते हैं ॥ ११ ॥

हे भगवन्! भक्तोंको मोक्ष देनेवाले और अगाध ज्ञानसंपन्न ब्रह्मा आदि भी जिसका हृदयमें चिन्तन करते हैं ऐसे तथा संसाररूप कुँएमें गिरे हुए लोगोंके लिये अवलम्बरूप आपके चरणयुगलका दर्शन हो गया। अब जैसे आपकी स्मृति बनी रहे ऐसा अनुग्रह कीजिये जिससे सदा आपका ध्यान करता हुआ विचरण करूँ ॥ १८ ॥

हे भगवन्! हम लोगोंको वह उपाय बताइये जिससे आपके चरणों की

१. भा० १२।१२।५३-५४ २. भा० १०।८०।११, ३. भा० १०।६९।१८,
४. भा० १०।७३।१५, ५. भा० ५।१८।१४

अहो अमीषाङ्किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः[१]॥२१॥

याऽस्सम्पर्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः[२] ॥२७॥

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामोप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्[३] ॥७॥

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतस्सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्[४] ॥४६॥

यत्पादयोरशठधीस्सलिलम्प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।

स्मृतिको इस जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए भी हम न भूलें ॥ १५ ॥

इसलिये रजोमय राग, विषाद, क्रोध, मान, स्पृहा, भय, दैन्य, आधि आदिके मूलभूत और जन्ममरणके कारणरूप इस गृहस्थको त्यागकर भगवान् नृसिंहके चरणोंका भजन करनेवालोंको भय कहाँ ॥ १४ ॥

[देवताओंने कहा—] आश्चर्य है कि इन पुरुषोंने कौनसे पुण्य कर्म किये होंगे जिनसे भगवान् विष्णु इनपर स्वयं प्रसन्न रहते हैं, और इन्होंने भगवान्की सेवाके एकमात्र साधन भारतवर्षमें मनुष्य जन्म लिया है। इस मनुष्य योनिपर तो हमें भी स्पृहा होती है (अर्थात् हम भी भारतमें जन्म लेकर भगवदाराधना करना चाहते हैं।) ॥२१॥

जिन गोपियोंने प्रेमपूर्वक पैर दबाना आदि सेवाओंसे, पति मानकर जगद्गुरु भगवान् कृष्णकी परिचर्याकी है उनके (पूर्वजन्मोंके) तपका क्या वर्णन हो सकता है ॥ २७ ॥

[अर्चनका उदाहरण—] वैदिक, तान्त्रिक और दोनों मिश्रित इस प्रकार तीन तरहका मेरा (भगवान्का) यज्ञ होता है। इन तीनोंमें से जिसे जो विधि अभीष्ट हो उससे मेरी पूजा करे ॥ ७ ॥

इस प्रकार वैदिक और तान्त्रिक कर्म योगकी विधियों द्वारा मेरी अर्चना

---

१. भा० ५।१९।२१, २. भा० १०।९०।२७, ३. भा० ११।२७।७,
४. भा० ११।२७।४९

अप्युत्तमाङ्गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत्[1] ॥२३॥

अहो प्रणामाय कृतस्समुद्यमः प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरैरलब्धपूर्वोपसदेऽसुरेऽर्पितः[2] ॥२॥

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्[3] ॥८॥

ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्[4] ॥६॥

पतितस्खलितो वाऽऽर्तः श्रुत्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्[1] ॥४६॥

नतास्स्म ते नाथ पदारविन्दं बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात्[2] ॥७॥

करता हुआ पुरुष मुझसे अपनी अभिलषित दोनों प्रकारकी (ऐहलौकिकी और पारलौकिकी) सिद्धियोंको प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

जिस भगवान्के चरणोंमें शुद्ध बुद्धिसे केवल जल चढ़ाकर अथवा केवल दूर्वाङ्कुरोंसे ही पवित्र पूजा करके भी मनुष्य त्रिभुवनका दान करनेवालेकी तरह अविकल चित्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त होता है, फिर उसे व्यथा कैसे सता सकती है ॥ २३ ॥

[वन्दनका उदाहरण—] (जब भगवान्ने बलिको वर दिया तो उसने कहा—) आपको प्रणाम करनेकी महिमाओंका क्या कहना है, जिस प्रणामका उद्योग अभक्तोंके लिये भी वह फल देता है जो कि शरणागत भक्तोंके लिये। क्योंकि मुझ नीच असुर पर आपने जो अनुग्रह किया वह लोकपालों और देवताओंको भी दुर्लभ है ॥ २ ॥

इसलिये आपकी अनुकम्पाकी प्रतीक्षा करता हुआ, अपने पूर्वजन्मके कर्मोंका ही आसक्ति रहित होकर भोग करता हुआ मनसे वाणीसे और शरीरसे प्रणाम करता हुआ जो जीवन बिताता है वही मुक्तिपदका उत्तराधिकारी है ॥ ८ ॥

---

१. भा० ८।२२।२३, २. भा० ८।२२।२, ३. भा० १०।१४।८,
४. भा० १०।३८।६

श्रीमद्भगवद्गीतासु च—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यन्ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे[३] ।।६५।।

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते[४] ।।१६।।

किञ्चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम् ।
योऽरोचयत् सह मृगैस्स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः[५] ।।४।।

आज मेरा अमङ्गल नष्ट हो गया और मेरा जीवन सफल हो गया जो कि मैं योगिजनोंसे ध्यान करने योग्य भगवान्‌के चरणकमलोंको प्रणाम कर रहा हूँ ।। ६ ।।

गिरा हुआ, फिसला हुआ, पीड़ासे व्याकुल हुआ अथवा विवश हुआ भी "भगवान् हरिके लिये नमस्कार है" ऐसा कहता हुआ मनुष्य, सम्पूर्ण पातकों से मुक्त हो जाता है ।। ४६ ।।

[देवताओंने कहा -] हे नाथ ! कर्ममय दृढ़पाशसे मुक्त होनेकी इच्छा करके मुमुक्षुजन भावयुक्त होकर हृदयमें जिसका निरन्तर चिन्तन करते हैं, उस आपके चरणारविन्दके लिये हमलोग बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणी से प्रणाम करते हैं ।। ७ ।।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

हे अर्जुन ! मनमें मेरा ही ध्यान करो, मेरा ही भजन करो, मेरे निमित्त भजन पूजन करो और मेरे लिये प्रणाम करो । इस प्रकार अन्तमें मुझे ही पाजाओगे यह मैं सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूं क्योंकि तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो ।। १८।।६५ ।।

[दास्यका उदाहरण—] जिसके नामश्रवणमात्रसे पुरुषके सारे मल दूर हो जाते हैं उस तीर्थपाद भगवान्‌के दासों (सेवकों) के लिये शेष क्या रह जाता है ।। १६ ।।

---

१. भा० १०।१२।४६, २. भा० ११।६।७, ३. गी० १८।६५, ४. भा० ६।५।१६
५. भा० ११।२६।४,

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्, सकलम्परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्[1] ॥३६॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णम्ब्रह्म सनातनम्[2] ॥३२॥
इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यङ्गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः[3] ॥११॥
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदाऽमृतत्वम्प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते व[4] ॥३४॥
धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।

हे अच्युत ! हे सम्पूर्ण चराचरके एकमात्र बन्धो ! ब्रह्मादि ईश्वरोंके दिव्यमुकुट जिनके पादपीठसे टकराते रहते हैं और पशुओंसे भी जिसने स्वेच्छासे मैत्री की है ऐसे आपका अनन्य शरण दासोंके अधीन हो जाना कौन से आश्चर्य की बात है ॥ ४ ॥

मनुष्य शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा ब्राह्मणत्वादि अपने स्वाभाविक धर्मसे जो कुछ भी करता है वह सब उस पर-ब्रह्म नारायणके अर्पण करदे ॥ ३६ ॥

[सख्यका उदाहरण—] अहो नन्दगोपके व्रजमें रहनेवालोंके भाग्य धन्य हैं धन्य हैं जोकि परम आनन्दरूप पूर्ण सनातन ब्रह्म भगवान् कृष्ण उनके मित्र (शुभेच्छु) हैं ॥ ३२ ॥

इस प्रकार दास्यभावको प्राप्त, मायाके आश्रित होकर भी उसे जीते हुए, सज्जन पुरुषोंके परम आराध्य नरदारक (मनुष्य बालक) रूप भगवान् कृष्णके साथ ब्रह्मानन्दका अनुभव करते हुए ये बिहार कर रहे हैं जिन्होंने अत्यन्त पुण्योंका समूह एकत्र किया है ॥ ११ ॥

[आत्मनिवेदनका उदाहरण—] मनुष्य जब समस्त कर्मोंका परित्याग कर मुझे आत्मनिवेदन कर चुकता है तब मुझसे सम्मानित होकर अमृतत्वको प्राप्त होता हुआ मेरे साथ एकरूपताको प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

धर्म-अर्थ-कामरूप जो त्रिवर्ग कहा गया है और जो ईक्षा (आत्मविद्या)

---

१. भा० ११।२।३६, २. भा० १०।१४।३२, ३. भा० १०।१२।११,
४. भा० ११।२९।३४,

मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः[1] ॥२६॥

देवर्षिभूताप्तनृणाम्पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यश्शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्[2] ॥४१॥

तस्मादेवंरूपेण यथाशक्ति भागवतधर्मानुष्ठाने भवति चतुर्थी भूमिका। एतच्चतुष्टयं साधनमेव।

त्रयी (कर्मविद्या), नय (तर्कशास्त्र), दम (दण्डनीति) और विविध प्रकार का वार्ताशास्त्र (व्यवहार या अर्थशास्त्र) इत्यादि है, यह सब मैं समझता हूँ कि त्रिगुणात्मक वेदके विषय हैं। ये यदि उस अन्तर्यामी परमात्माके साधक हों तो सत्य हैं, अन्यथा असत्य ॥ २६ ॥

कर्मको त्यागकर सर्वभावसे शरणागत रक्षक भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गया हुआ पुरुष, देवता, ऋषि, प्राणी कुटुम्बी, अतिथि और पितरोंका न तो दास ही रहता है और न उनका ऋणी ही है ॥ ४१ ॥

इसलिये इस प्रकार से यथाशक्ति भागवतधर्मोंका अनुष्ठान यह चौथी भूमिका है[3]। ये चारों भूमिकाएँ (अर्थात् महापुरुषोंकी सेवा, उनकी दयाका-पात्र होना, भागवत धर्मोंमें श्रद्धा और हरिगुणश्रुति अर्थात् भागवतधर्मोंका अनुष्ठान) साधन रूप हैं [इसके बाद अवशिष्ट भूमिकाएँ साध्यरूप भक्तिकी कही जायंगी—]

---

१. भा० ७।६।२६, २. भा० ११।५।४१

३. श्रवण आदि नवधा भक्तिके द्वारा मुक्तिको प्राप्त करनेवाले उत्कृष्ट भगवद्भक्तोंकी गणना क्रमशः निम्नलिखित श्लोकमें की गई है—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने,
प्रह्लादः स्मरणे, तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः, पृथुः पूजने,।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने,ऽथ हनुमान् दास्ये, च सख्येऽर्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कैवल्यमेषां फलम ॥

श्रीभगवान् विष्णुकी श्रवणभक्तिमें परीक्षित प्रसिद्ध हुए, कीर्तनमें शुकदेव जी, स्मरणमें प्रह्लाद, पादसेवनमें लक्ष्मी जी, अर्चनमें पृथु, वन्दनमें अक्रूर, दास्यमें हनूमान्, सख्यमें अर्जुन और सर्वस्व देकर आत्मनिवेदनमें राजा बलि प्रसिद्ध हुआ और इन सबको मोक्षरूप फल की प्राप्ति हुई है ॥

(५) ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः । रतिर्नाम भक्तिरसस्थायिभावो द्रुत-चित्तप्रविष्टभगवदाकारतारूपस्संस्कारविशेष इति वक्ष्यते । स एवाङ्कुरो भागवतधर्मानुष्ठानात्मकबीजस्य । तदुक्तम्—

सताम्प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति[1]।।२५।।

श्रद्धा भक्तिरसानुभवे, ततो रतिः स्थायिभावः, ततस्स एव भक्तिरसताम्प्राप्तोऽनुक्रमेण भविष्यतीत्यर्थः ।

एवम्मनः कर्मवशम्प्रयुङ्क्ते ह्यविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्[2] ।। ६ ।।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः[3]।।५४।।

(५) इसके बाद (भगवान्‌में) रति का अङ्कुर उत्पन्न होता है । "भक्तिरसका स्थायीभाव और द्रवित हुए चित्तमें प्रविष्ट भगवदाकारता रूप संस्कारविशेष ही रति कहलाती है" यह आगे कहा जायगा, यही रति भागवत धर्मोंके अनुष्ठान रूप बीजका अङ्कुर है (अर्थात् भागवतधर्मोंका श्रद्धा पूर्वक अनुष्ठान करनेसे भगवान्‌में रति होने लगती है जैसे बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है) जैसे कहा है—

सज्जनोंकी सङ्गतिसे मेरे पराक्रमका ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको सुख देनेवाली कथाओंका श्रवण होता है और उस श्रवणसे शीघ्रही अपवर्ग (मोक्ष) मार्गमें श्रद्धा होकर रति अङ्कुरित होती है तब पूर्णभक्ति होती है ।। २५ ।।

अर्थात् भक्तिरसके अनुभवमें श्रद्धा होगी तब रतिरूप स्थायीभाव उत्पन्न होगा और तब वही स्थायीभाव क्रमसे भक्तिरसता को प्राप्त होगा । यह तात्पर्य है ।

इस प्रकार अविद्यासे आत्माके आच्छादित रहनेपर मनभी पूर्व कर्मों के अधीन रहता हैं, अतः जबतक मुझ वासुदेवस्वरूपमें प्रीति नहीं हो जाती तबतक जीव देह-बन्धनसे नहीं छूटता ।। ६ ।।

[मुचुकुन्दने कहा है—] हे अच्युत ! आपके अनुग्रहसे जब संसारके

---

१. भा० ३।२५।२५, २. भा० ५।५।६, ३. भा० १०।५१।५४

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति[1] ॥ ४२ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे[2] ॥ ६७ ॥

इयञ्च पञ्चमी भूमिका भक्तेस्स्वरूपम् । एतस्या एव परिपाकविशेषादन्याष्षड्भूमिकाः फलभूताः ।

(६) स्वरूपाधिगतिस्ततः । प्रत्यगात्मस्वरूपस्य स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयातिरिक्तत्वेन साक्षात्कारष्षष्ठी भूमिका । अन्यथा देहेन्द्रियादिविक्षेपेण जाताया अपि रतेरनिर्वाहात् । तदुक्तम्—

चक्करमें पड़े हुए मनुष्यके वन्धनका नाश होने का समय आता है तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है । जब सत्सङ्ग प्राप्त होता है तब वह अन्य समस्त सङ्गों से निवृत्त हो जाता है और उसकी कार्यकारणके नियन्ता परमात्मरूप आपके प्रति भक्ति उत्पन्न्न होती है ।। ५४ ।।

[कुन्तीने कहा है—] जैसे गङ्गाका जल सब ओरसे सिमट कर प्रवाह रूपसे समुद्रकी ओर ही वहता है, उसी प्रकार हे मधुपते ! मेरी वुद्धि भी अन्य सम्पूर्ण विषयोंसे हटकर आपमें ही लगकर निश्चल हो जाय ।। ४२ ।।

हे कृष्ण ! ईश्वरकी इच्छासे जहाँ कहीं भी (जिस किसी भी योनिमें) कर्मोंके अनुसार घूमते हुए हमारा शुभाचरणों और दानों द्वारा ईश्वरमें प्रेम होवे ।। ६७ ।।

यही पाँचवीं भूमिका भक्तिका स्वरूप है । अन्य ६ भूमिकाएं इसी भूमिकाके परिपाक विशेषसे सफल होती हैं । [श्रद्धापूर्वक भागवतधर्म का अनुष्ठानरूप बीज इस पाँचवीं भूमिकामें अङ्कुरित होता है । बीजमें जब अंकुर उत्पन्न होते हैं तभी वह वृक्ष या लताका रूप धारण करता है इसी प्रकार यह भक्तिरूप कल्पना भी इस भूमिकामें अंकुरित होकर ही आगे अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त होती है और ज्यों-ज्यों वह बढ़ती जाती है त्यों-त्यों अनुपम आनन्दात्मक भगवत्प्रेममें भी वृद्धि होती जाती है । इसी रीतिसे आगेकी भूमिकाएं उस भक्तिलताकी फलरूप कही गई हैं]

(६) इसके बाद भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है । परमात्मस्वपरूका

1. भा० १।८।४२, २. भा० १०।४७।६७

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ।। २ ।।
अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयञ्ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ।। ३ ।।
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीङ् गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।। ४ ।।
गुणैर्विचित्रास्सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यस्स इह ज्ञानगूहया ।। ५ ।।
एवम्पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ।। ६ ।।
तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यञ्च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः[1] ।। ७ ।।

स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों शरीरोंसे भिन्न रूपमें साक्षात्कार ही छठी भूमिका है, नहीं तो देह इन्द्रियादि के विक्षेपसे (अर्थात् देहेन्द्रियादि में "मैं और मेरा" रूप अभिमान होनेसे) भगवत्-स्वरूपमें उत्पन्न हुई रति भी व्यर्थ हो जाती है और साधक पूर्ण भगवदाकारताको नहीं प्राप्त हो सकता है ।

[स्वरूपाधिगतिमें क्या होता है ? उ०—] जैसाकि कहा है—

[श्री भगवान्ने कहा—] हृदयकी ग्रन्थियोंको भेदन करनेवाले जिस आत्मदर्शनरूप ज्ञानको पुरुषके मोक्षार्थ विद्वानोंने कहा है उसे ही मैं तुमसे कहता हूँ ।। २ ।।

आत्मा ही अनादि पुरुष, निर्गुण, प्रकृतिसे पर, प्रत्यग्धामा, और स्वयं ज्योति स्वरूप है । यह सम्पूर्ण जगत् जिससे प्रकाशित है ।। ३ ।।

वहाँ यह व्यापक पुरुष सूक्ष्म, दैवी, गुणमयी और स्वेच्छासे उत्पन्न प्रकृतिकी लीलासे प्राप्त हुआ ।। ४ ।।

गुणोंके द्वारा समानरूपवाली विचित्र प्रजाओंको उत्पन्न करती हुई उस प्रकृतिको देखकर वह पुरुष मोहको प्राप्त हो गया और अपने ज्ञानमय स्वरूप को भूल गया ।। ५ ।।

इस प्रकार देहका अध्यास होनेसे प्रकृतिके गुणोंसे किये जानेवाले कार्यों-का अपनेको कर्ता ही समझने लगता है ।। ६ ।।

---

१. भा० ३।२६।२-७,

तथा—

आत्मा नित्योऽव्ययश्शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः ।
अविक्रियस्स्वदृग्घेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥ १९ ॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः ।
अहम्ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्[१] ॥ २० ॥

एवं शुद्धे त्वम्पदलक्ष्येऽवगते तत्पदलक्ष्येण सहाभेदज्ञानं भवति । एतदप्युक्तम्—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया[२] ॥ ५५ ॥

इत्यादि । एतादृशज्ञानस्य च भक्त्युत्तरकालत्वं दर्शितम्—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च, यदहैतुकम्[३] ॥७॥

यद्यपि केवल साक्षीरूप होनेसे यह पुरुष आनन्दरूप और अकर्ता है फिर भी कर्तृत्वाभिमानके कारण इसे जन्म, मरण, वन्धन और परतन्त्रता होती है ॥ ७ ॥ तथा—

आत्मा नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार, आत्मदर्शनका हेतु, व्यापक, सङ्गरहित और अनावृत है, आत्माके इन श्रेष्ठ १२ लक्षणोंको समझता हुआ विद्वान् पुरुष देहादिमें होनेवाले "मैं और मेरा" इस प्रकारके झूठे मोहको त्याग देवे ॥ १९-२० ॥

इस प्रकार ("तत्त्वमसि" इस वाक्यमें) "त्वम्" पदसे जो लक्ष्य किया गया है उस जीवरूपको अच्छी प्रकार जानलेनेपर "तत्" पदसे लक्ष्य जो परमात्मा है उसके साथ अभेदज्ञान होता है । यह भी कहा है—

इस कृष्णको तुम सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मारूप समझो, वह (सारे जगत्का आत्मा होता हुआ) भी इस समय संसारके कल्याण के लिये मायासे देहधारी सा प्रतीत हो रहा है ॥ ५५ ॥

इस प्रकारके ज्ञानका भक्तिके उत्तरकालमें होना दिखाया है—

भगवान् वासुदेवमें प्रयुक्त भक्तियोग शीघ्रही वैराग्यको और उस ज्ञानको भी उत्पन्न करता है जो अहैतुक अर्थात् शुष्क तर्कादिसे रहित है ॥ ७ ॥

---

१. भा० ७।७।१९-२०, २. भा० १०।१४।५५, ३. भा० १।२।७,

श्रेयस्स्रु (स्सृ) तिम्भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ते केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्[1] ।।
इत्यादि ।

(७) एतादृशतत्त्वज्ञाने सति वैराग्यदार्ढ्याद्भगवति प्रेम्णो वृद्धिर्भवतीति सप्तमी भूमिका । यथा—

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहग्रहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ।।३७।।
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्रपिबन् ब्रुवन् ।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ।।३८।।
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ।।३९।।
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ।।४०।।

हे विभो ! [जैसे सरोवरसे अनेक स्रोत बहते हैं ऐसे ही आपकी भक्तिसे पुरुषार्थ रूप स्रोत बहते हैं] ऐसी आपकी भक्तिको त्यागकर जो व्यक्ति शुद्ध ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अन्य शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं उन्हें केवल क्लेश ही हाथ लगता है । जैसे चावल पानेकी इच्छासे धानकी भूसी कूटनेवालेको व्यर्थ श्रम ही करना पड़ता है, चावल नहीं मिल सकते ।। ४ ।।

(७) इस प्रकारका तत्त्व ज्ञान हो जाने पर वैराग्य दृढ़ हो जानेसे भगवान्में प्रेमकी वृद्धि होती है, यह सातवीं भूमिका है ।

जैसे—बालक अवस्थामें विद्यमान हुआ भी वह (प्रह्लाद) खिलौने आदि क्रीड़ा-साधनोंको छोड़कर भगवान् में तन्मयचित्त हो कृष्णरूप ग्रहसे सताये हुए उन्मत्तकी तरह सांसारिक धर्मोंको कुछ भी न समझता था ।।३७।।

भगवान् गोविन्दका ध्यान करता हुआ वह बैठते, घूमते, सोते, पीते और बोलते हुए किसी प्रकार इन सांसारिक विषयोंको नहीं सोचता था ।।३८।।

भगवान्की चिन्तासे व्याकुलचित्त हुआ वह कभी रोता था, उन्हींका चिन्तन करनेसे आनन्दित हो कभी हँसता था, कभी गाता था, कभी उल्लसित होकर चिल्लाने लगता था, कभी लज्जा त्यागकर नाचने लगता था, कभी भावनावश तन्मय होकर उन्हींकी लीलाओंका अनुकरण करता था ।

---

१. भा० १०।१४।४

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥४१॥
स उत्तमश्लोकपदारविन्दयोर्निषेवयाऽकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहुर्दुःस्सङ्गदीनान्यमनश्शमं व्यधात्[1] ॥
स प्रह्लादः । तथा—

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यथा संलभते रतिम् ॥३३॥
निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुश्श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्मगतिर्गतत्रपः ॥३५॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥३६॥

कभी भगवद्भावनाका स्पर्श होनेपर रोमाञ्चित हो उठता था और अखण्ड स्नेहके आनन्दसे आँसूसे भरी आँखें भींच लेता था और फिर अत्यानन्दसे तृप्त हुआ सा चुपचाप हो जाता था ॥ ३९-४१ ॥

इस प्रकार निरीह भक्तजनोंके सत्सङ्गसे पाई हुई पुण्यश्लोक भगवान्के चरणारविन्दोंकी सेवासे अत्यन्त आनन्दित हुआ वह बार-बार अन्य दीन-दुःखियोंको भी शान्ति प्रदान करता था ॥४२॥

तथा—इस प्रकार षड्वर्ग (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य)को जिन्होंने जीतलिया है, ऐसे व्यक्तियों द्वारा भगवान्में भक्ति की जाती है जिस से वे भगवान् वासुदेवमें रति (प्रेम) को प्राप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

भगवान्के लीलावतारोंमें किये हुए अनुपम पराक्रमों, गुणों और कर्मोंको सुनकर वह भक्त अत्यन्त हर्षसे पुलकित हुआ गद्गद कण्ठसे गाता है, रोता है, और नाचता है ॥ ३४ ॥

जब ग्रहोंसे सताये हुए पागलकी भांति कभी हँसता है, रोता है, ध्यान करता है, प्रणाम करता है और बारबार श्वास लेता हुआ आत्मबुद्धि हो लज्जा छोड़कर हे हरे ! हे जगत्पते ! हे नारायण ! यह उच्चारण करने

---

१. भा० ७।४।३७-४२

अघोत्तजालम्भ (म्ब) मिहाशुभात्मनश्शरीरिणस्संसृतिचक्रशातनम्
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्[1] ॥३७॥

एवमन्यदप्यूहनीयम्। एतादृशसप्तमीपर्यन्त एव साधनाभ्यासः। अतः परन्तु भूमिकाचतुष्टयमयत्नसाध्यम्।

(८) तस्याथ स्फुरणम्। तस्य प्रेमास्पदीभूतस्य भगवतस्साक्षात्कारः प्रेमातिशयहेतुकोऽष्टमी भूमिका। तदुक्तम्—

नैकात्मताम्मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥
पश्यन्ति मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥

लगता है, तब वह भक्त समस्तबन्धनोंसे मुक्त हुआ और भगवान्के ही भावमें विभोर हृदयवाला, प्रारब्ध कर्मोंको नष्ट करके अत्यन्त महती भक्तिके प्रयोगसे शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त होता है ।। ३५-३६ ।।

भगवान् विष्णुका आलम्बन ही इस संसारमें दुःखी देहियोंके जन्म-मृत्युरूप चक्रको नष्ट करता है। इसीको विद्वानोंने ब्रह्मप्राप्ति या मोक्ष सुख माना है। इसलिये आपलोग भी हृदयमें उस हृदयेश्वर भगवान् का भजन करें ।। ३७ ।।

ऐसे ही और भी उदाहरण समझने चाहिये। इस प्रकार इस सातवीं भूमिका तक ही साधनाका अभ्यास किया जाता है। इसके बाद तो शेष चार भूमिकाएं विना प्रयत्नके ही साध्य हैं ।।

(८) इसके बाद उसका स्फुरण होता है। अर्थात् अत्यन्त प्रेमसे होनेवाला उस भगवान्का साक्षात्कार जोकि प्रेमका लक्ष्य रहा है, (अर्थात् जिस भगवान्से प्रेम किया गया है उसका साक्षात्कार) ही आठवीं भूमिका है। जैसे कहा है—[कपिलने देवहूतिसे]

मेरे चरणोंकी सेवामें लीन हुए और मेरे ही निमित्त कर्म करने वाले कुछ भक्त तो मेरी एकात्मता अर्थात् सायुज्य मोक्षको भी नहीं चाहते। वे ऐसे भक्त हैं जो परस्पर एकत्र होकर मेरे ही पुरुषार्थोंकी आचार पूर्वक चर्चा करते रहते हैं ।। ३४ ।।

---

1. भा० ७।७।३३-३७

तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो, मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते[1] ॥
एवमन्यदप्यूह्यम् ।

(९) ततः भगवद्धर्मनिष्ठा । यथा श्रीविष्णुपुराणे—
शालग्रामे महाभागो भगवन्न्यस्तमानसः ।
उवास सुचिरङ्कालम्मैत्रेय ! पृथिवीपतिः ॥
अहिंसादिष्वशेषेषु गुणेषु गुणिनां वरः ।
अवाप परमाङ्काष्ठाम्मनसश्चापि संयमे ॥
यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव ।
कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम् ॥
नान्यज्जगाद मैत्रेय किञ्चित् स्वप्नान्तरेष्वपि ।
एतत्परन्तदर्थञ्च विना नान्यदचिन्तयत् ॥
समित्पुष्पकुशादानञ्चक्रे देवक्रियाकृते ।
नान्यानि चक्रे कर्माणि निस्सङ्गो योगतापसः ॥

हे अम्ब ! वे लोग मेरे रुचिर, प्रसन्नमुख और अरुणनेत्रोंवाले, वरप्रद दिव्यरूपोंको देखते रहते हैं और साथ ही स्तुतिरूपा स्पृहणीय वाणीको बोलते हैं, अर्थात् मेरी स्तुति करते हैं ॥ ३५ ॥

उन-उन मेरे दर्शनीय अवयवोंसे, विलासोंसे, हास्योंसे, कटाक्षोंसे और भाषणोंसे जिनका चित्त और प्राण मुझमें आकृष्ट हो गया है ऐसे भक्तोंको मोक्षकी इच्छा न रहनेपर भी भक्ति बलात् मोक्षकी ओर प्रवृत्त करती है ।३६।

इस प्रकार और भी समझना चाहिये ॥

(९) इसके बाद भगवद्धर्ममें निष्ठा होती है, (यह नवीं भूमिका है) जैसे श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

हे मैत्रेय ! पृथिवीपति (भरत) वह महाभाग शालग्राम रूप भगवान्में जिसका मन आसक्त हो गया है, ऐसा होकर चिरकाल तक रहा, इस प्रकार गुणवानोंमें श्रेष्ठ वह राजा अहिंसादि सम्पूर्ण गुणोंमें और मनको वशमें करनेमें पराकाष्ठाको प्राप्त हो गया । वह राजा केवल हे यज्ञेश ! हे अच्युत ! हे गोविन्द ! हे माधव ! हे अनन्त ! हे केशव ! हे कृष्ण ! हे हृषीकेश ! यही

---

१. भा० ३।२५।३४-३६

पृथिवीपतिर्भरतः । श्रीमद्भागवते च—

अम्बरीषो महाभागस्सप्तद्वीपवतीं महीम् ।
अव्ययाञ्च श्रियं लब्ध्वा विभवञ्चातुलम्भुवि ॥१५॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम् ।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान् ॥१६॥
वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु ।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्ठवत् स्मृतम् ॥१७॥
स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिञ्चकाराच्युतसत्कथोदये ॥१८॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्यां रसनान्तदर्पिते ॥१९॥

उच्चारण करता था ॥ हे मैत्रेय ! स्वप्नमें भी भगवन्नामोच्चारणके सिवा दूसरे किसी का नाम उसके मुखसे नहीं निकलता था और न कोई दूसरा विषय ही उसके ध्यानमें आता था । वह देवक्रिया के लिये समिधा, कुश, पुष्प आदि लाता था, निःसङ्ग होकर योग और तप करता था । श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

महाभाग अम्बरीष (साधारण पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ) सप्तद्वीपवती पृथ्वी, कभी न समाप्त होनेवाली सम्पत्ति, और अतुलनीय विभवको पाकर भी इसको स्वप्नतुल्य समझता था । क्योंकि विद्वान् पुरुष भी उस विभवमें लिप्त होनेपर अज्ञानको प्राप्त होता है ॥ १५-१६ ॥

भगवान् कृष्णमें और उनके भक्त साधुओंमें उसकी अत्यन्त भक्ति थी जिससे इस सम्पूर्ण विश्वको वह एक मिट्टीके ढेलेसा क्षुद्र समझता था ॥१७॥

उसने अपना मन भगवान् कृष्णके पदारविन्दमें, वाणीको भगवान्के गुणवर्णनमें, हाथोंको भगवान्के मन्दिर आदि साफ करनेमें, कानोंको भगवान् अच्युतकी कथाका श्रवण करनेमें लगा दिया था ॥ १८ ॥

उसने अपने नेत्रोंको भगवान्के मन्दिरोंके दर्शन करनेमें, शरीरको भगवद्भक्तोंके सङ्गमें, नासिकाको भगवत्पादारविन्दकी सुगन्धिमें और जिह्वाको भगवान्के प्रसादरूप तुलसी ग्रहण करनेमें लगा दिया था ॥ १९ ॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥
एवं सदा कर्मकलापमात्मनः परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमान्तन्निष्ठविप्राभिहितश्शशास ह[1] ॥

यथा वा—

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलङ्गायत विष्णुगाथाः ॥१५॥
पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥१६॥
इति स्म राजाऽध्यवसाययुक्तः प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते समुद्रपत्न्यास्स्वसुतन्यस्तभारः ॥१७॥

उसके पैर भगवान्‌के क्षेत्रों (तीर्थों) में भ्रमण करनेमें और मस्तक भगवान् हृषीकेशके पादाभिवन्दनमें आसक्त था, उसकी इच्छा केवल भगवान् की दासतामें थी, वह भी किसी कामनासे नहीं केवल भगवद्भक्तों से प्रेम करनेके लिये थी ॥ २० ॥

इस प्रकार अपने सारे कर्मकलापको यज्ञस्वरूप भगवान् पुण्डरीकाक्षमें सर्वात्मभावसे समर्पण करते हुए भगवन्निष्ठ ब्राह्मणों की रायसे वह इस पृथ्वी का शासन करता था ॥ २१ ॥

अथवा--[राजा परीक्षितने कहा है—]

हे ब्राह्मणो ! अब मैं चित्तमें भगवान्‌का ध्यान करके देवी गङ्गा और आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ, चाहे मुझे विप्रशापसे प्रेरित तक्षक डस भी दे तो कोई बात नहीं, आपलोग भगवत्कथा का गान करें ॥ १५ ॥

आगे भी मैं जिस-जिस योनिमें उत्पन्न होऊँ उसमें मेरी भगवान्‌में रति, भगवद्भक्तोंसे सङ्ग और सज्जनोंसे मैत्री होवे, ब्राह्मणोंके लिये सर्वदा नमस्कार है ॥ १६ ॥

ऐसा निश्चय करके वह धैर्यशाली राजा (परीक्षित) पुत्रको राज्यका भार सौंपकर गङ्गाके दक्षिणतटपर पूरवमुख बिछे हुए कुशाओंपर उत्तर की ओर अपना मुख करके बैठगया ॥ १७ ॥

---

१. भा० ९।४।१५-२१,

राजा परीक्षित् ।

एवञ्च तस्मिन्नरदेवदेवे प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः ।

प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनैर्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः[१] ॥१८॥

यथा वा—

वयन्त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।

त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरन्तमः[२] ॥४८॥

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिताः ।

उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायाञ्जयेम हि[३] ॥४६॥

एवमन्यदप्यूहनीयम् । भगवद्धर्मनिष्ठा प्रयत्नपूर्विका साधनम् । स्वतस्सिद्धा तु भगवद्धर्मनिष्ठा भवति फलभूता नवमी भूमिका ।

(१०) अतस्स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता । यथा—

अथो विभूतिं मम मायया चितामैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।

श्रियम्भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥

इस प्रकार राजाके अनशनपूर्वक गङ्गातटमें बैठ जानेपर देवताओंने प्रशंसा करते हुए भूमिपर फूल बरसाये और स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं ॥ १८ ॥ और जैसे—[उद्धवने कहा है—]

हे महायोगिन् ! देवमनुष्यादि इन कर्म-योनियोंमें घूमते हुए हमलोग तो आपके भक्तोंके साथ आपके चरित्रोंका गुणगान करके इस दुस्तर तमोमय अज्ञानको तर जायंगे ॥ १६ ॥

आपके द्वारा उपभुक्त माला, चन्दन, वस्त्र, अलङ्कार आदिसे विभूषित हुए और आपकी जूठनको खाते हुए हम आपके सेवक आपकी मायाको आसानीसे पार कर जाते हैं ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिये ॥

यह भगवद्धर्म निष्ठा दो प्रकार की होती है, (१) जिसमें प्रयत्न किया जाता है। वह साधनरूपा जैसे शुकादिकी, और (२) स्वतः सिद्धा जो विना प्रयत्नके ही प्राप्त होती है जैसे गोपिकाओंकी। इस प्रकार यह नवीं भूमिका हुई ॥

(१०) इसके बाद "अपनेको भगवद्गुणोंसे युक्त समझना" जैसे—

१. भा० १।१६।१५-१८, २. भा० ११।६।४८, ३. भा० ११।६।४६

न कर्हिचिन्मत्पराश्शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहम्प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुस्सुहृदो दैवमिष्टम्[१] ॥३८॥

एवमविनश्वरभगवत्तुल्यगुणाविर्भावो भवति दशमी भूमिका ।

(११)प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठा । प्राणपरित्यागावधिविरहासहिष्णुतारूपा । यथा—

गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने ।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्[२] ॥१६॥

अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटि युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्[३] ॥१५॥

[भगवान्‌ने कहा है—] इसके बाद अविद्या निवृत्त हो जानसे मुझ मायावीकी विभूतियों का, अणिमादि अष्टसिद्धियों वाले ऐश्वर्य का, भगवत्सम्बन्धिनी शोभाका और भी मेरे लोकमें होनेवाली कल्याणकारी सिद्धियोंका उपभोग करते हैं ॥ ३७ ॥

जिनका मैं ही प्रिय आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद्, ईश्वर और अभीष्ट हूं ऐसे मत्परायण भक्त कभी नाशको नहीं प्राप्त होते और मेरा कालचक्र उन्हें कभी नष्ट नहीं होने देता ॥ ३८ ॥

इस प्रकार अविनाशी भगवान्‌के तुल्य गुणोंका आविर्भाव हो जाता है यह दशवीं भूमिका है ॥

(११) इसके बाद प्रेमकी पराकाष्ठा होना अर्थात् प्राणत्याग पर्यन्त भगवद्-विरहको न सहन करसकना रूप ग्यारहवीं अन्तिम भूमिका है ॥ जैसे—

गोपियोंको भगवान् कृष्णके दर्शनमें परम आनन्द होता था और भगवान्‌के विना उनको एक क्षण भी सैकड़ों युगोंसा लगता था ॥ १६ ॥

[गोपियाँ कहती हैं—] जब आप प्रातःकाल वनको चले जाते हैं तो आपके दर्शनके विना हमें आधा क्षण भी एक युगके समान प्रतीत होता है और (सायंकाल जब आप लौटकर आते हैं तब) घुंघराले केशोंसे शोभायमान आपके सुन्दर मुखका दर्शन करती हुई (हम समझती हैं कि) हमारी

---

१. भा० ३।२५।३७-३८, २. भा० १०।२९।१६, ३. भा० १०।३१।१५

लक्षणम्भगवद्भक्तेस्साधनं सोपपत्तिकम् ।
सभूमिकं स्वरूपञ्च यथाबुद्धीह वर्णितम् ॥३७॥

भगवद्भक्तिका लक्षण, उसके साधन, उपपत्ति पूर्वक उसकी भूमिकाएँ और उसका स्वरूप, यथामति इस उल्लासमें वर्णन किया गया है ॥३७॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य-विश्वविश्रुत-सर्व-
तन्त्रस्वतन्त्रताक-श्रीमधुसूदनसरस्वती-यतिवर-
विरचिते श्रीभगवद्भक्तिरसायने भक्ति-
सामान्यनिरूपणं नाम प्रथम उल्लासः ।

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाऽथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्रविं विनाऽक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत[1] ॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥९॥
दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः[2] ॥११॥

आँखोंके पलक बनानेवाले ब्रह्माजी जड़ (हृदयशून्य) ही थे क्योंकि उतने समय तक (पलक झपने तक) हमें आपके दर्शनोंसे वंचित रहना पड़ता है ॥ १५ ॥

हे पुण्डरीकाक्ष ! हे अच्युत ! जब आप अपने मित्रोंको देखनेके लिये हस्तिनापुर या मथुरा चले जायंगे तो आपके विना हमारे लिये एक क्षण भी करोड़ों वर्षोंके तुल्य इस प्रकार हो जाता है जैसे सूर्यके विना आँखोंको ।७।

कुछ गोपियाँ घरोंके भीतर बैठी हुई बाहर न आसकतीसी भगवान् कृष्णको उनकी भावनासे युक्त होकर आँख मूंदकर ध्यान करती थीं ॥ ९ ॥

असहनीय लम्बे विरहके तीव्रतापसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं और ध्यानमें प्राप्त हुए भगवान्के आलिङ्गनके आनन्दसे जिनके पुण्यों का फल भी पूर्ण होनेसे क्षीण हो गया है (इस प्रकार पुण्यपाप दोनोंके नष्ट हो

---

१. भा० १।११।१, २. भा० १०।२९।९-११

इत्यादि । दिङ्मात्रमिहोदाहृतम् । अनन्तरोल्लासे पुनरेतत् सप्रपञ्च-मुदाहरिष्यते प्रेमेत्युपरम्यते ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य–विश्वविश्रुत-सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रताक–श्रीमधुसूदनसरस्वतीयतिवरकृतश्रीभगवद्भ-क्तिरसायनप्रथमोल्लासस्य तादृशयतिवरैरेव विरचिता टीकामतल्लिका ।

———

जानेसे निष्कल्मष हुई) ऐसी गोपियाँ जार बुद्धिसे उस भगवान्से मिलनेपर भी बन्धनोंसे मुक्त होकर इस गुणमय देहको त्यागती थीं ॥ १०-११ ॥

इत्यादि उदाहरणोंसे संकेतमात्र यहाँ किया है, अगले उल्लासमें इस प्रेम-का विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे इसलिये यहाँ इसे समाप्त करते हैं ॥

यह श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-विश्वविख्यात-सर्वशास्त्रपारग–श्रीमधुसूदन-सरस्वती यतिवर विरचित–श्रीभगवद्भक्तिरसायनमें भक्तिका सामान्य-निरूपण नामक-प्रथम उल्लासका तथा उन्हींकी की हुई टीकाका

श्रीजनार्दनशास्त्री पाण्डेय कृत हिन्दी अनुवाद

समाप्त हुआ ।

———

द्वितीय उल्लासः

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा ।
सा भक्तिरित्यभिहिता विशेषस्त्वधुनोच्यते ॥ १ ॥
चित्तद्रुतेः कारणानां भेदाद् भक्तिस्तु भिद्यते ॥
तान्युक्तानि तु संक्षेपाद् व्याख्यायन्तेऽधुना स्फुटम् ॥ २ ॥

[प्रथम उल्लासमें भक्तिका स्वरूप, साधन और भूमिकाओं सहित सामान्य निरूपण करके ग्रन्थकारने प्रतिज्ञा की है—"दिङ्मात्रमिहोदाहृतम्, अनन्तरोल्लासे चैतरसप्रपञ्चमुदाहरिष्यते प्रेमेति"। इसीलिये संक्षेपमें प्रथमोल्लासका विषय कहकर आगेकी अवतारणा करते हैं—]

अर्थ—"तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे द्रवितहुए चित्तमें स्थिररूपसे प्रविष्ट हुई जो भगवदाकारता है, वही भक्ति है" जिसका सामान्यनिरूपण (प्रथमोल्लासमें) करचुके हैं, अब विशेष निरूपण किया जाता है ॥१॥

विवृति—'चित्तद्रव्यं हि जतुवत्०' इस चतुर्थकारिकामें तापकविषयोंसे चित्तका द्रवीभाव होना, 'कामक्रोध०' इस ५ वीं में तापकविषयोंकी गणना, 'द्रुते चित्ते०' इस छठी कारिकामें कथित प्रकारसे द्रुतचित्तमें भगवदाकारताका प्रवेश, और 'स्थायिभाव गिरा०' इससे उसकी स्थिरता का प्रतिपादन करदिया गया है। इसलिये 'द्रुतस्य भगवद्धर्मान्०' इस तृतीय कारिकामें ही भक्तिका सामान्य लक्षण हो चुका है। अब इस द्वितीय उल्लासमें उसके अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया जायगा ॥ १ ॥

अर्थ—चित्तद्रुतिके भिन्न-भिन्न कारण होनेसे भक्तिके भी अवान्तर भेद होते हैं। संक्षेपमें उन कारणोंको कह चुके हैं, अब विस्तृतरूपसे उनकी व्याख्या करते हैं ॥२॥

विवृति—"काम क्रोध-भय-स्नेह-हर्ष-शोक-दयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनः तच्छान्तौ कठिनन्तु तत्"

प्रथमोल्लासकी इस पांचवीं कारिकामें चित्तद्रुतिके विभिन्नकारणोंकी गणना की है, इन्हीं की स्फुट व्याख्या इस उल्लासमें करते हैं।

काम: शरीरसंबन्धविशेषस्पृहयालुता ॥
संनिधानासंनिधानभेदेन स भवेद् द्विधा ॥ ३ ॥

यहाँ यह विशेष द्रष्टव्य है कि रूपगोस्वामीने अपने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में उपर्युक्त कामादि साधनभक्तिके निमित्तभेद माने हैं और साध्यभक्तिके मोक्षादि फलभेद कहे हैं, प्रकृतग्रन्थकार श्रीमधुसूदन सरस्वतीने जिसरूपमें ग्रन्थकी अवतारणा की है उसमें उनका कथन ही उपयुक्त प्रतीत होता है। साध्यभक्ति और साधनभक्ति का स्वरूप प्रथमोल्लासमें निरूपण कर चुके हैं ॥ २ ॥

[कामजन्य भक्ति का निरूपण]

अर्थ—शरीरका जो विशिष्ट सम्बन्ध (सुरतादिरूप) है, तद्विषयक उत्कट इच्छा होना ही 'काम' है, वह (काम) सन्निधान और असन्निधान भेदोंसे दो प्रकारका होता है ॥ ३ ॥

विवृति—यद्यपि 'कमु कान्तौ' धातु है और कान्ति का अर्थ है इच्छा, इसलिये काम शब्द सामान्यत: किसी भी इच्छाका वाचक होना चाहिये किन्तु यहाँ काम शब्दसे विशेष सुरतरूप इच्छा ही लीगई है, क्योंकि प्राय: इसी अर्थमें कामशब्द लक्षणया रूढ़ हो गया है। सुरतेच्छाजनकता ही काम (स्मर)-की कामता है। "कामयन्ते=सुरतमिच्छन्ति अथवा काम्यन्ते=सुरतमेष्यन्ते जनाः अनेन स कामः" यही कामका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। कामुक और कामिनी शब्द भी सामान्य इच्छावाची कामशब्द को लेकर नहीं बोले जाते। इनमें भी भूयान्=उत्कट सुरतेच्छा होना ही व्युत्पत्तिका प्रयोजक है। इस अर्थमें इन पदके रूढ़ि होनेका कारण यह है कि सामान्य इच्छासे चित्तद्रुति नहीं होती और उत्कट सुरतेच्छासे चित्त द्रवित हो जाता है अत: काम शब्दसे उत्कट सुरतेच्छा ही ली जाती है। भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !' इसका भी यही अर्थ है जो केवल इन्द्रियों की तृप्तिका साधन नहीं किन्तु नित्य नियमित प्रकाशके उद्दीपक धर्मका सहचर है अर्थात् शास्त्रोक्त विधानके अनुसार पितृऋणसे मुक्तिके लिये मनुष्यको सदाचारी जितेन्द्रिय और मुमुक्षु बनाता है वह काम ही मैं हूं। स्त्री-पुरुषके अवाच्य मिलनजन्य भावाङ्कुरको शृंगारका उत्पादन कहकर भरत-मुनिने भी नाट्यशास्त्रमें कामको तीसरा पुरुषार्थ माना है।

तज्जन्यायां द्रुतौ चित्ते या स्याच्छ्रीकृष्णनिष्ठता ।।
संभोगविप्रयोगाख्या रतिः सा सा क्रमाद् भवेत् ।। ४ ।।

यह काम दो प्रकारसे होता है—सन्निधान (सामीप्य) और असन्निधान (दूर) । इसको दूसरे शब्दोमें सन्निकर्ष और विप्रकर्ष कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रेमी की सन्निधि होनेपर जो शरीरका सम्बन्धावेश होता है वह सन्निधान काम और असन्निधि से जो मानसिक सम्बन्ध होता है वह असन्निधान या विप्रलम्भ काम है ।।३।।

अर्थ—उस (सन्निधान और असन्निधान भेदसे दो प्रकारके) कामसे चित्तके द्रवित होनेपर चित्तमें जो श्रीकृष्णविषयक निष्ठा रूप रति उत्पन्न होती है वह क्रमसे संभोग और विप्रलम्भ रूपसे दो प्रकार की है ।।४।।

विवृति—यद्यपि बाह्यलक्षणोंसे विषयजन्यसम्भोग और भगवत्सम्भोगमें विशेष अन्तर नहीं है किन्तु वास्तविक रूपसे देखा जाय तो भगवत्सम्भोग सात्विक समाधिरूप है और विषय सम्भोग राजस तथा नाशवान् है। जैसा कि श्री मधुसूदन सरस्वतीने अन्यत्र कहा है—

"प्रसरति विषयेषु येषु रागः परिणमते विषयेषु तेषु शोकः।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते रुचिपरिपाकशुचामगोचरोऽसि ।।

'हे भगवन् ! जिन विषयोंमें अधिक अनुराग होता है वे ही अन्तमें (विषयकी समाप्ति पर) शोक उत्पन्न करनेवाले होते हैं, किन्तु परमरमणीय आपके स्वरूपमें रुचि और अनुराग होना तो उचित ही है क्योंकि तुम्हारे प्रेमकी परिणतिमें शोक कभी होता ही नहीं ।" यहाँ यह शंका हो सकती है कि अन्य रसशास्त्रके प्रणेताओंने सम्भोग और विप्रलम्भ ये रसके दो भेद माने हैं रतिके नहीं ? यह कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि भावोंसे ही रसकी अभिनिर्वृति होती है। जैसे सम्भोग शृङ्गारमें जो रति स्थायी भाव है वह विप्रलम्भमें नहीं रहता, ऐसा तो कह नहीं सकते। उसका स्थायीभाव होना ही उसकी अविनाशिता का द्योतक है अतः रतिके दो भेद कहनेमें कोई दोष नहीं।

इन दोनोंके (संभोग और विप्रलम्भके) उदाहरण श्रीभागवत दशमस्कन्धमें प्रचुरमात्रामें पाये जा सकते हैं। जैसे—

क्रोध ईर्ष्यानिमित्तं तु चित्ताभिज्वलनं भवेद् ॥
तज्जन्यायां द्रुतौ सा तु द्वेषशब्देन गृह्यते ॥ ५ ॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीविस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार[1]

"हाथ फैलाना, आलिङ्गन करना, उनके हाथों, ऊरुओं, नीवि, स्तन आदि-का स्पर्श करना, क्रीडामें नखोंको चुभाना, तिरछी चितवनोंसे देखना, हँसना आदि कर्मोंमे गोपियोंके दिव्य कामरसको उत्तेजित करते हुए भगवान्‌ने उन्हें आनन्दित किया ॥"

यह संभोगका उदाहरण है । विप्रयोगका जैसे—

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः[2] ॥

"भगवान् की गति (चलने) से, प्रेमपूर्वक मुसकानसे, विभिन्न विलास-पूर्ण हावभावोंसे तिरछी चितवनोंसे देखनेसे, मनोहर आलापोंसे, और भी विभिन्न क्रीड़ाओंसे जिनके चित्त आकृष्ट हो गये हैं ऐसी वे गोपियाँ उनके विरहमें भी तन्मय होकर वैसी ही चेष्टाएं करती थीं" ॥४॥

[क्रोधजन्यभक्ति का निरूपण]

अर्थ–ईर्ष्यासे होनेवाला चित्तका दाह क्रोध कहलाता है । उस क्रोधसे होने वाली चित्तकी द्रुतिमें जो रति होती है वह द्वेष शब्दसे कही जाती है ॥५॥

विवृति—दूसरेका अभ्युदय न सहन कर सकना रूप ईर्ष्यासे जन्य जो चित्तकी जलन होती है उसे क्रोध कहते हैं । उस क्रोधसे जन्य चित्तद्रुतिमें निविष्ट जो श्रीकृष्णाकारता वह द्वेषपदसे कही जायगी । तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌के उत्कर्ष को न सहन करनेके कारण हृदयमें उनके प्रति क्रोध होगा और उसी क्रोधके कारण उनसे द्वेष हो जायगा । वह इतना अधिक हो जायगा कि निरन्तर उन्हींका चित्तमें ध्यान होने लगेगा, जैसा कि हिरण्य-कशिपु और शिशुपाल आदिका होता था, यही क्रोधजन्यभक्ति होगी । अपनी असमर्थता तथा द्वेष्यके उत्कर्षसे निरन्तर उसीके विषयमें सोचना स्वाभाविक ही है ।

उपर्युक्त श्लोकमें 'तु' शब्दसे क्रोधसे अन्य द्रावकका निरास किया है ।

---

१. भा० १०।२९।४६, २. भा० १०।३०।४

अत्र चेतोव्याकुलत्वं सोपद्रावकदर्शनात् ॥
उपद्रावकनाशार्थं तत्प्रीत्यर्थं च तद् द्विधा ॥ ६ ॥
तत्राद्यं द्वेष एव स्याद् द्वितीयं रतिशब्दभाक् ॥
उपरिष्टात्तदुभयं मया स्पष्टीकरिष्यते ॥ ७ ॥

अर्थात् इस श्रीकृष्णनिष्ठता का पूर्वोक्त श्रीकृष्णनिष्ठतासे वैशिष्ठ्य जिस द्वेष-शब्दसे कहा जाता है वह दिखाया है। क्रोध दो प्रकार का होता है शुद्ध और भयमिश्रित। इसी अभिप्रायसे आगे शुद्धरौद्र और रौद्रभयानक नामके रौद्ररस-के भेद कहे जायंगे। इसीलिये शिशुपाल आदिका भगवदुत्कर्षासहत्वेन ईर्ष्या-जन्य और गोपिकाओंका भगवान् द्वारा सपत्नीगमनादिद्वेष के कारण ईर्ष्या-जन्य द्वेष ही इस श्लोकमें वर्णित भक्तिका विषय है। कंस आदिका द्वेष इसका विषय नहीं। उसे आगे कहेंगे ॥ ५ ॥

अर्थ–द्वेषसे उत्पन्न होनेवाली चित्तकी व्याकुलता जो द्वेषके उद्दीपकको देखनेसे उत्पन्न होती है दो प्रकारकी है। १—उपद्रावकनाशविषयिणी और २—उपद्रावक प्रीतिविषयिणी ॥६॥

विवृति—उपद्रावक का अर्थ है उपद्रव करनेवाला अर्थात् श्रीकृष्ण, लोकमें भी देखा जाता है सर्प आदिको देखकर उसके प्रतिक्रियास्वरूप चित्तमें एक प्रकारकी व्याकुलता होती है। इसी प्रकार भक्तिमें भी श्रीकृष्णरूप द्वेषोद्दीपनविभावको देखकर शिशुपालादिद्वारा उनके नाशकी इच्छा और सपत्नीगमनादिसे द्वेष करनेवाली गोपिकाओंका उनके प्रति प्रेम, ये ही इसके उदाहरण हैं ॥ ६ ॥

अर्थ —इनमें पहला प्रकार तो द्वेष ही होगा और दूसरा प्रकार रतिशब्द-से कहा जायगा। इन दोनोंको आगे हम (ग्रन्थकार) स्पष्ट करेंगे ॥७॥

विवृति—पहला प्रकार अर्थात् उपद्रावकनाशार्थ प्रवृत्ति तो द्वेष ही है और दूसरी उपद्रावकप्रीत्यर्थ प्रवृत्ति रति मानी जायगी, क्योंकि इसमें जो क्रोध होता है वह आगन्तुक होता है जिसके कारण द्वेषत्व गौण हो जाता है और सञ्चितकर्मजन्य स्नेहाङ्कुरोंमें अन्तर्भाव होनेसे उसका भी कामजन्यरतिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि श्रीकृष्णविषयक स्थायीभाव दोनोंमें तुल्य ही है, फिर एकको भक्तिरस माना जाय और दूसरे को न माना जाय, ऐसा क्यों ? इसका उत्तर आगे चलकर

द्वेषाहेतुः स्वमन्तूत्थं वैक्लव्यं चित्तगं तु यत् ॥
तज्जन्यायां द्रुतौ याऽऽस्ते रतिः सा भयमुच्यते ॥ ८ ॥

(२९ वीं कारिका—'ईर्ष्याभयजौ द्वेषौ') में स्पष्ट करेंगे। द्वेषका उदाहरण—

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठादुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः।
उत्क्षिप्तबाहुरिदमाह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः[1] ॥

अर्थात् इस प्रकार युधिष्ठिरके द्वारा भगवान् कृष्णका सत्कार और सभासदों द्वारा उसका अनुमोदन देखकर कृष्णके गुणों का वर्णन सुननेसे जिसे क्रोध हो आया है ऐसा दमघोष-पुत्र शिशुपाल, हाथ ऊपर उठाउठाकर बीचसभामें ही भगवान्को सुनाता हुआ गालियाँ देने लगा ॥ ७ ॥

अर्थ—द्वेषका कारण न होती हुई जो चित्तकी विफलता, केवल अपने (कर्ताके) अपराधसे उत्पन्न होकर क्षोभ करनेवाली है, उस (व्याकुलता) से जन्य चित्तद्रुति होनेपर श्रीकृष्णविषयिणी जो रति, वह "भय" कहलाती है।

विवृति—इस प्रकारके 'भय'-स्थायीभाववाले भक्तिरसको 'प्रीतिभयानक' पदसे आगे कहेंगे। यहाँ 'द्वेषाहेतुः' यह वैकल्यका विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि भय निजापराधजनित चित्तवैक्लव्य होगा तभी चित्तद्रुति सम्भव है। यदि द्वेषजन्य भय हुआ तब तो द्वेष चित्तका तापक होता है उससे चित्तद्रुति कैसे होगी, वह तो द्रुत हुए चित्तको भी सुखा देगा। इसी प्रकार 'स्वमन्तूत्थं' (निजापराधजन्य) विशेषणका तात्पर्य यह है कि आर्त भक्तके चित्तकी विकलता से भी चित्तद्रुति होती है और वह भी 'द्वेषाहेतु' होती है किन्तु वह करुणरसकी रति है अतः उससे इसकी पृथकता दिखानेके लिये 'स्वमन्तूत्थं' विशेषण दिया है।

भगवद्विषयक भयजन्य रतिका उदारहण जैसे—

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ॥
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति[2] ॥

[कुन्तीने कहा है—] आपनें जिस समय यशोदाका अपराध किया था (अर्थात् दहीके बर्तन फोड़ डाले थे) और यशोदाने आपको बाँधनेके

१. भा० १०।७४।७, २. भा० १।८।३१

स्नेहः पुत्रादिविषयः पाल्यपालकलक्षणः ॥
सेव्यसेवकभावोऽन्यः सोऽप्युक्तस्त्रिविधो बुधैः ॥ ६ ॥
भगवद्दास्यसख्याभ्यां मिश्रितं चापरं जगुः ॥
या कृष्णाकारता चित्ते तज्जन्यद्रुतिशालिनि ॥ १० ॥
पाल्यपालकभावेन सा वत्सलरतिर्भवेत् ॥
सेव्यसेवकभावेन प्रेयोरतिरितीर्य्यते ॥ ११ ॥

लिये हाथमें रस्सी ली थी, उस समय आपने अपना जो स्वरूप उसे दिखाया था उससे मैं मोहित हो जाती हूँ। यद्यपि भय (काल) भी आपसे डरता है किन्तु उस समय यशोदाके डरसे आपका मुख नीचे झुक गया था और आपके नेत्रोंसे काजलमिश्रित आंसू टपक रहे थे ॥ ८ ॥

अर्थ---पाल्यपालक लक्षणवाला पुत्रादि-विषयक भाव स्नेह कहलाता है। इसी प्रकार सेव्य-सेवकभाव भी दूसरे प्रकारका स्नेह है जिसे विद्वानोंने तीन प्रकारका कहा है ॥ ६ ॥

विवृति---अनुरागात्मक अनुभवसिद्ध मनोवृत्तिको स्नेह कहते हैं। पाल्य (पालन करने योग्य) पुत्रादिकों में पालक (पालन करनेवाले) पिता आदिका जो अनुराग है वह उत्तम स्नेह है क्योंकि वह विशुद्ध सत्त्वगुण-प्रधान होता है और भृत्यादिका अपने स्वामीके प्रति जो स्नेह है वह साधारण होता है क्योंकि उसमें सत्त्वके साथ रजोगुण भी मिश्रित रहता है। प्रथम प्रकारका (पाल्य-पालकभाव लक्षणवाला) स्नेह एक ही प्रकार का है किन्तु दूसरा (सेव्य-सेवक भाववाला) तीन प्रकारका होता है जिसे अगली कारिकामें स्पष्ट किया गया है ॥ ६ ॥

अर्थ—भगवान्में दास्य, सख्य और मिश्रित (जिसमें दास्य और सख्य दोनों हों) भावों से जन्य रतिको तीन प्रकारकी सेव्यसेवकभाव जन्य रति कहा है। इस प्रकार द्विविध स्नेहसे जन्य द्रुतिशाली चित्तमें जो श्रीकृष्णा-कारता होती है वह पाल्यपालक भावसे हो तो वत्सलरति और सेव्यसेवक भावसे हो तो प्रेयोरति कहलाती है ॥१०-११॥

विवृति–भगवान् शब्दसे भक्तिशास्त्रमें श्रीकृष्ण ही लिये जाते हैं। क्योंकि—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, समग्रधर्म, समग्रयश, समग्र श्री, समग्रज्ञान और समग्र वैराग्य ये ६ भग शब्दसे कहे जाते हैं, (समग्रका अर्थ है सम्पूर्ण अर्थात् निःशेष) इस प्रकार समग्र ऐश्वर्यादि नित्य और अप्रतिहतरूपसे जिसमें रहें वह भगवान् कहलाता है, इसीको स्मृतिमें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

उत्पत्तिञ्च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

अर्थात् जो प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशको, आगति और गतिको (सम्पद् और आपद्को) तथा विद्या और अविद्याको जानता है उसे भगवान् कहते हैं ॥

उपर्युक्त लक्षण श्रीकृष्णमें पूर्णतया घटते हैं, अतः ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण में तदाकारता द्रवीभूत चित्तकी सेव्यसेवक भाव जन्य रतिके ये तीन प्रकार हैं—दास्य, सख्य और मिश्रित । श्रवणकीर्तनादि साधन भक्ति कहलाती हैं किन्तु दास्य और सख्य साध्यभक्ति हैं । क्योंकि साधन भक्ति किसी कामना विशेषसे भी होती है परन्तु दास्यमें दास स्वयं प्रभुका ही हो जाता है । दास्यका उदाहरण हनुमान् प्रह्लाद आदि हैं । जिसे एक बार दास्य सुखका अनुभव हो गया उसे फिर किसी भी सुखकी इच्छा नहीं रह जाती और संसारका कोई प्रलोभन उसे आकृष्ट नहीं कर पाता जैसे—

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहग्रहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्[1] ॥

(प्रह्लाद) बचपनमें ही खेलकूद छोड़कर पागलोंकी भाँति भगवान्में तन्मय होकर कृष्णरूप ग्रहसे गृहीत हुआ सा, संसारके किसी भी विषयको नहीं जानता था ।

सख्य भक्तिमें अपने सारे क्रिया-कलापको प्रभुका ही समझकर भक्त तन्मय हो जाता है । इसके उदाहरण—गोप सुदामा आदि हैं । जैसे—

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः[2] ॥

---

१. भा० ७।४।३६, २. भा० १०।१३।११

हर्षश्चित्तसमुल्लासः कथ्यते स चतुर्विधः ॥
एकः परानन्दमयः श्रीशमाहात्म्यकारणम् ॥ १२ ॥

अर्थात् वंशीको कमरकी फेंटमें डाले, सींगी और वेतको बगलमें दबाए, बायें हाथमें चिकना ग्रास और अँगुलियोंमें उसके उपकरण लिये, चारों ओर से सुहृदों (गोपगणों) से घिरे हुए, अपनी कोमल कान्त पदावलीसे सबको हंसाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण, जो कि सब यज्ञोंके भोक्ता हैं स्वर्गके देवताओं को आश्चर्यमें डालते हुए भोजन कर रहे थे ॥

उभय (दास्य-सख्य मिश्रित) भक्तिमें आत्मनिवेदनका भाव होता है इसमें भक्त अपनेको प्रभुका दास और सखा दोनों समझता है जैसे अर्जुन, उद्धव आदि।

सखेतिमत्वा प्रसभं यदुक्तं हेकृष्ण हेयादव हेसखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्[1] ॥

इस प्रकार पुत्रादि-स्नेह और सेवकादि-स्नेहकी विवेचनाकी गई है। इसमें पाल्य-पालक भावसे जो चित्तद्रुतिकी श्रीकृष्णाकारता वह वत्सलरति कहलाती है और सेव्यसेवक भावसे जो श्रीकृष्णाकारता वह प्रेयोरति कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार इस रसके ये दो स्थायीभाव हैं और इसके आधार पर वत्सलरस और प्रेयोरसका निर्माण होता है जो भक्तिरसके ही अन्तर्गत आता है ॥ १०–११ ॥

[हर्षजन्यरति]

अर्थ—चित्तका समुल्लास ही हर्ष है। वह चार प्रकारका कहा गया है। (उसमें से) एक (प्रथम-शुद्धहर्ष) परम आनन्दमय श्रीश (भगवान्) की महिमासे उत्पन्न होता है ॥१२॥

विवृति—इष्ट प्राप्त्यादि होनेसे उत्पन्न जो चित्तका आह्लादात्मक सुख-विशेष है वही हर्ष कहा जाता है। जिसमें किसी भी प्रकारसे दुःखका लेश

१. गी० ११।४१-४२

तज्जन्यायां द्रुतौ शुद्धा रतिर्गोविन्दगोचरा ॥
एतदन्तं हि शास्त्रेषु साधनाम्नानमिष्यते ॥ १३ ॥
व्रीडाविकृतवाग्वेषचेष्टाऽऽदिजनितोऽपरः ॥
तज्जन्यायां द्रुतौ चेतोविकासो हास उच्यते ॥ १४ ॥

नहीं होता। इस हर्षके चार भेद किये हैं-१-शुद्ध हर्ष, २-हास, ३-विस्मय और ४-उत्साह। इनमें प्रथम शुद्धहर्षका लक्षण उपर्युक्त श्लोकमें बताया है शेषका आगे कहेंगे।

मायिक प्रपञ्चोंसे जन्य आनन्दकी अपेक्षा जो उत्कृष्ट आनन्द स्वरूप है अर्थात् जगत्के पदार्थोंसे जो आनन्द होता है वह क्षणिक और नश्वर होता है किन्तु भगवत्प्राप्तिका आनन्द चिरस्थायी है अतः भगवान् परानन्दमय हैं। "श्रीयते=सेव्यते सर्वैः इति श्रीः" इस विग्रहके अनुसार सब जिसकी सेवा करते हैं वह श्रीः=लक्ष्मी है। किन्तु भगवान् श्रीके भी ईश हैं अर्थात् लक्ष्मी उनकी सेवा करती है। इस प्रकार परानन्दमय जो श्रीश (भगवान् कृष्ण) हैं उनकी महिमासे जन्य अर्थात् उनका नाम, रूप, गुण तथा लीलाओंमें अभिरुचिसे उत्पन्न हर्ष ही शुद्ध हर्ष है॥ १२ ॥

अर्थ—इस शुद्ध हर्षसे जन्य चित्तद्रुति होनेपर जो रति होती है वह शुद्धा रति है क्योंकि उसमें भगवान् (गोविन्द) का साक्षात्कार होता है। शास्त्रोंमें जो साधनाविषयक उपदेश दिये गये हैं वे इस रतिके प्राप्त होनेपर समाप्त हो जाते हैं (अर्थात् फिर साधनाकी आवश्यकता नहीं रह जाती)॥

विवृति—आगे ४१ वीं कारिकामें "राजसी-तामसी शुद्ध सात्त्विकी मिश्रिता च सा" कहकर शुद्ध सात्त्विकीसे यही शुद्धा रति ली गई है और ६४ वीं कारिकामें इनका विभाग किया गया है। इस रतिके होनेपर फिर साधनाभ्यासकी इच्छा या आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि साधना तभीतक की जाती है जबतक साध्यकी उपलब्धि न हो जाय। यह रति तभी होती है जब भगवान्का साक्षात्कार हो जाता है अतः फिर साधनाकी आवश्यकता ही क्या रह गई ॥१३॥

[हर्षका दूसरा प्रकार—हास]

अर्थ—लज्जा, वाणीके ध्वनिजन्य विकार, वेष, हावभाव आदिसे जन्य

लोकोत्तरचमत्कारिवस्तुदर्शनजः परः ॥
तज्जन्यायां द्रुतौ चेतोविकासो विस्मयो मतः ॥ १५ ॥
युद्धाभिपातजनितो वीराणां जायते परः ॥
ततश्चित्तस्य विस्तारो द्रुतस्योत्साह उच्यते ॥ १६ ॥

दूसरा (शुद्ध हर्ष से भिन्न) हर्ष होता है। इस हर्षसे जन्य चित्तद्रुति होनेपर जो चित्तका समुल्लास होता है वह हास कहा जाता है ॥१४॥

विवृति--यह सामान्य हास है अर्थात् भगवान्‌की वे चेष्टाएं जिनमें हँसी आ जाती है। भगवान् कृष्णकी व्रजलीलाओंमें इसके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं ॥१४॥

[हर्षका तीसरा प्रकार—विस्मय]

अर्थ—अलौकिक चमत्कारी वस्तुको देखनेसे उत्पन्न होनेवाला हर्ष तीसरा (उक्त दोनों प्रकारोंसे विलक्षण) है। इससे होनेवाली द्रुतिमें जो चित्तका विकास है वह विस्मय कहा जाता है ॥१५॥

विवृति—सामान्यतः लोकमें दिखाई देनेवाले पदार्थोंसे कोई विस्मय नहीं होता किन्तु यदि अलौकिक कोई पदार्थ दीख पड़े तो आश्चर्य होता है। इसी प्रकार भगवान्‌के भी उन चरित्रोंमें कोई वैशिष्ट्य नहीं लगता जिन्हें एक साधारण मनुष्य कर लेता है। किन्तु जब ऐसे चरित्र दीखते हैं जो सामान्य मनुष्यके द्वारा संभव नहीं, तब चित्तमें एक विचित्र कौतूहल सा होता है, यही तीसरा विस्मय नामका हर्ष है। जैसे गोप बालकोंने यशोदासे शिकायत की कि कृष्णने मिट्टी खाई है, यशोदाजीने उनके मुखमें देखा तो वहाँ उन्हें सारा ब्रह्माण्ड दिखाई दिया और वे बोलीं—

किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः[1] ॥

अर्थात् यह कोई स्वप्न है या ईश्वरकी माया है, अथवा मेरी बुद्धिका भ्रम है या मेरे इस बालकमें जन्मसे ही कोई योगसिद्धिका चमत्कार है, जो कि सारा ब्रह्माण्ड मुझे यहाँ दीख रहा है। यही विस्मय है। इस प्रकारकी विस्मयरतिसे भक्तिमें अत्यन्त वृद्धि होकर भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपका बोध होता है ॥१५॥

अर्थ—युद्धाभिपात (सङ्ग्रामाभिमुख्य) से वीरोंके चित्तमें उत्पन्न होने-

---

1 भा० १०।८।४०

इष्टविच्छेदजनितो यश्चित्तो क्लिष्टतोदयः ।।
तज्जन्यायां द्रुतौ विष्टा रतता शोक उच्यते ।। १७ ।।
दया घृणा स्याद्विषयतुच्छत्वज्ञानपूर्विका ।।
तया द्रुते तु मनसि जुगुप्सा जायते त्रिधा ।। १८ ।।

वाला चौथा (पूर्वोक्त तीनोंसे भिन्न) हर्ष होता है। उससे द्रुत हुए चित्तका समुल्लास उत्साह कहा जाता है ।।१६।।

विवृति— यद्यपि सामान्य जनोंके लिये युद्धका समाचार भयप्रद है किन्तु वीरोंके लिये वह हर्षका कारण होता है क्योंकि उनका वीरत्व युद्धमें ही प्रकट होता है। अतः वीरोंके चित्तमें युद्धाभिमुख होनेमें जो आनन्द आता है, वही उत्साह है। जो शौर्यशाली पुरुष हैं उन्हें भगवान्की शौर्यलीलामें ही अधिक अभिरुचि होती है यह तात्पर्य है।

उत्साह कई प्रकारका होता है। यह युद्धोत्साहका ही वर्णन है। इसी प्रकार दयोत्साह, दानोत्साह, धर्मोत्साह आदि आगे कहे जायेंगे। यद्यपि सभी उत्साह एक साथ गिने जाने चाहिये थे अपने-अपने स्वभावानुकूल चित्तद्रुति तो सभीमें होगी फिर भी इस हर्ष प्रकरणमें युद्धोत्साह ही गिना गया है क्यों कि अन्य उत्साहोंकी अपेक्षा इसमें सक्रियता अधिक रहती है ।।१६।।

अर्थ-- प्रिय वियोगसे जनित जो चित्तमें विकलता होती है उससे जन्य चित्तद्रुतिमें प्रविष्ट रति, शोक कहलाती है ।।१७।।

विवृति — इसी शोकरतिको आगे प्रीतिकरुण या करुणभक्ति नामसे कहा जायगा। प्रियविरहजनित विलाप आदिसे इसका उद्गम होता है। जैसे—

योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो
गोपैर्विशन् खुररजश्छुरितालकस्रक् ।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन
चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम[1] ।।

अर्थात् जो सायंकालके समय गोधूलिसे धूसरित, माला पहिने, वंशी बजाता हुआ, बलरामजीके साथ गोपोंसे घिरा हुआ व्रजमें प्रवेश करते समय मन्दमुसकान और कटाक्ष युक्त अवलोकनसे हमारे चितको हरता था, उस श्री-कृष्णके विना हम क्षणभर भी कैसे जियेंगी ।। १७ ।।

---

१. भा० १०।३९।३०

पूतिव्रणादिविषये कथितोद्वेगिनी बुधः ॥
श्मशानोत्थपिशाचादिविषया क्षोभिणी भवेत् ॥ १९ ॥
देहेन्द्रियादिदुःखत्वविचारणपुरःसरा ॥
घृणा शुद्धेति कविभिः सा जुगुप्सा प्रकीर्त्तिता ॥ २० ॥

अर्थ--विषयोंमें तुच्छताका ज्ञान होकर उनसे जो घृणा हो जाती है वह दया है उससे चित्तकी द्रुति होनेपर जो अनुभूति होती है उसे जुगुप्सा कहते हैं जो तीन प्रकारकी है ॥१८॥

विवृति–जब सांसारिक विषयोंसे तीव्र वैराग्य हो जाता है तो साधक उन्हें तुच्छ समझने लगता है और उसे उनसे घृणा हो जाती है यही दया है। कोशकारोंने भी दयाको घृणाका पर्याय माना है (कारुण्यं करुणा घृणा, कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्-अमरकोश) इसका परिणाम जुगुप्सा है। जो तीन प्रकारकी होती है--उद्वेगिनी, क्षोभिणी और शुद्धा। सामान्यतः दयाका अर्थ लोकमें रक्षणरूप ही लिया जाता है किन्तु दय धातु दान गति हिंसा अर्थोंमें भी आता है इसलिये हिंसा अर्थमें प्रयुक्त होनेपर क्षोभ, गत्यर्थकमें उद्वेग और दान या रक्षणार्थकसे शुद्ध सहयोगात्मक अर्थ लेना स्वाभाविक ही है। ये ही चित्तानुभूतियां क्षोभिणी, उद्वेगिनी और शुद्धा कहीगई हैं जिन्हें अगली कारिकाओंमें स्पष्ट किया है।

दया यद्यपि भक्तिका साक्षात् स्थायीभाव नहीं है किन्तु शुद्ध जुगुप्सारूपमें वैराग्यके द्वारा परम्परया हो सकती है इसलिये प्रथम उल्लासमें 'कामक्रोधादि चित्तद्रावकोंमें "दयाऽऽदयः" कहा है और इसीलिये यहाँ उसके लक्षण और भेद दिये हैं ॥ १८ ॥

अर्थ—दुर्गन्धिपूर्ण शरीरके घाव आदिको देखनेसे उत्पन्न हुई घृणाको विद्वानोंने उद्वेगिनी कहा है, श्मशानादिमें रहनेवाले भूत प्रेत पिशाचादिको देखनेसे जन्य घृणा क्षोभिणी होती है और संसार या सांसारिक विषयोंकी नश्वरतासे उत्पन्न उपरति शुद्ध जुगुप्सा है ॥१९-२०॥

विवृति—अर्थात् जिस घृणासे हृदयमें उद्वेग हो जाता है वह उद्वेगिनी और जिससे क्षोभ होता हैं वह क्षोभिणी है। किन्तु शुद्धा जुगुप्सा वीभत्स और शान्तके संमिश्रणसे पुष्ट होती है। इसके उदाहरण भागवत तृतीयस्कन्ध अध्याय २१ में पर्याप्त हैं ॥ १९-२० ॥

या तु शोच्यस्य रक्षाऽर्थं प्रवृत्तिरनुकम्पया ।।
तया द्रुते तु मनसि दयोत्साहः स्मृतो बुधैः ।। २१ ।।
सर्वस्वमपि दास्यामि प्रार्थयेति च यो महान् ।।
उद्यमो द्रुतचित्तस्य दानोत्साहः स उच्यते ।।२२।।
तथा स्वधर्मरक्षाऽर्थं या प्रवृत्तिः प्रयत्नतः ।।
तया चित्तस्य विस्तारो धर्मोत्साहो द्रुतौ भवेद् ।। २३ ।।

अर्थ—शोक करनेयोग्य रक्षणीय पदार्थकी रक्षाके लिये (उसपर अनुकम्पा होनेसे) जो प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्तिसे द्रवीभूत चित्तमें जो उत्साह होता है उसे विद्वान् लोग दयोत्साह कहते हैं ।।२१।।

विवृति—"दयते = रक्षत्यनया इति दया" इस विग्रहके अनुसार दया-पदका जो अनुकम्पारूप रूढ़ि अर्थ है तद्हेतुक स्थायीभाव बनानेके लिये उत्साहका प्रथमभेद दयोत्साह यहाँ बताया है । क्योंकि पहले श्लोककी विवृतिमें बताचुके हैं कि दया भक्तिका साक्षात् स्थायीभाव न होकर परंपरया स्थायीभाव है । जैसे 'अध्ययनेन वसति' यहाँ 'हेतौ' तृतीया होती है वैसे ही 'दयया उत्साहः' यह तृतीयातत्पुरुष यहाँ भी होगा । यही बात दानोत्साह और धर्मोत्साहमें भी समझनी चाहिये । तात्पर्य यह है कि परदुःख-निवारणेच्छारूप प्रवृत्ति द्वारा दयाकी चित्तद्रावकता इससे सूचित की गई है ।। २१ ।।

अर्थ—"हे प्रार्थिन् ! तुम अपने किसी भी अभिलषित पदार्थको माँगो मैं अपना सर्वस्व भी तुम्हें दूंगा" इस प्रकारका जो महान् (प्रशंसनीय) उद्यम है वह दानोत्साह कहा जाता है ।।२२।।

विवृति—पहले कह चुके हैं कि दयधातुके तीन अर्थ हैं उनमें प्रसिद्ध रक्षण रूप अर्थको लेकर दयोत्साह कहा है और दान अर्थको मानकर यह दानोत्साह कहा गया है और हिंसारूप अर्थको लेकर युद्धोत्साह कहा है । दानोत्साहका उदाहरण जैसे भगवान् रामका यह वाक्य है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।।

एकबार भी जो सर्वात्मभावसे मेरी शरण आकर "मैं आपका हूँ" यह याचना कर लेता है उसे मैं सबसे निर्भय कर देता हूं यह मेरी प्रतिज्ञा है ।२२।

अर्थ—और स्वधर्मकी रक्षाके लिये प्रयत्न पूर्वक जो प्रवृत्ति है उसके

वशीकाराख्यवैराग्यं यत् कामास्पृहताऽऽत्मकम् ॥
तेन द्रुतस्य चित्तस्य प्रकाशः शम उच्यते ॥२४॥

द्वारा चित्ताका जो विस्तार है वह द्रुतिमें धर्मोत्साह कहाता है ॥२३॥

विवृति—भिन्न-भिन्न वर्णों और आश्रमोंके पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं। जो जिस वर्ण या आश्रममें होता है उस वर्णाश्रमका धर्म ही उस व्यक्ति का स्वधर्म है। कष्ट सहकर भी उस स्वधर्मकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेमें जो प्रवृत्ति होती है और उससे चित्तमें जो एक प्रकारका उल्लास होता है वही धर्मोत्साह है। समय-समय पर इन्हीं स्वधर्मोंको बतानेके लिए भगवान्के लीलावतार होते हैं। जैसा कि भगवान्ने गीतामें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

"हे अर्जुन! जब जब धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होती है तब तब मैं अवतार लेता हूं. सज्जनोंकी रक्षा, दुर्जनोंका विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युग युगमें उत्पन्न होता हूँ॥" आदि ॥२३॥

अर्थ—समस्त काम्य विषयोंकी अस्पृहता (स्पृहाका न होना) ही वशीकार नामका वैराग्य है, उस (वशीकार) से द्रुत हुए चित्ताका प्रकाश शम कहलाता है ॥२४॥

विवृति—प्रथमोल्लासकी पांचवीं कारिकामें चित्त द्रावकोंको गिनातेहुए "कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयाऽऽदयः" कहा था। उनमें कामसे दया तकके स्थायीभावोंका निरूपण करचुके। इस श्लोकमें आदयः पदसे गृहीत शान्तरसके स्थायीभाव शमका लक्षण किया है—वशीकार संज्ञक वैराग्यसे द्रुत हुए चित्तका प्रकाशरूप ही शम है। वशीकार संज्ञक वैराग्यका निरूपण प्रथमोल्लासकी टीकामें विस्तारसे कर चुके हैं। जैसाकि महर्षि पतञ्जलिने अपने योगसूत्रमें लिखा है—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" अर्थात् दृष्ट=लौकिक (कान्तादि) और आनुश्रविक=वैदिक (ज्योतिष्टोमादि) दूसरे शब्दोंमें ऐहिक और आमुष्मिक सम्पूर्ण विषय

इतोऽन्यथा तु चित्तस्य न द्रुतिर्विद्यते क्वचित् ।।
तदभावात्तु भावो न निरुक्तान्योऽस्ति कश्चन ।। २५ ।।
यावत्यो द्रुतयश्चित्ते भावास्तावन्त एव हि ।।
स्थायिनो, रसतां यान्ति विभावादिसमाश्रयात् ।।२६।।

भोगोंसे तृष्णा रहित हो जाना ही वशीकार वैराग्य है। अर्थात् इसमें मन वशमें हो जाता है उसे किसी प्रकारके विषयोंकी इच्छा नहीं रह जाती। क्योंकि इससे पूर्व तीन प्रकारके वैराग्य और होते हैं—१. यतमान—इसमें शीतोष्ण सुखदुःखादि सहकर मनको वशमें करनेकी चेष्टा की जाती है। २. व्यतिरेक—इसमें साधक अपने स्वरूपकी रक्षाके लिये विरक्त रहता है। विषयोंसे पृथक् रहनेकी चेष्टा करता है किन्तु कर्मकषाय परिपक्व न होनेसे फिर भी उनका स्मरण हो आता है। ३. एकेन्द्रिय—निष्काम कर्म करनेसे ऐहिक विषयोंसे तो विरक्ति हो जाती है परन्तु पारलौकिक विषयोंको नहीं छोड़ सकता। इन तीनोंसे चित्तद्रुति सम्भव नहीं अतः वशीकारसे द्रुतचित्ता-का प्रकाश ही शम कहा जाता है। इससे आगे भी एक पर-वैराग्य होता है किन्तु वह बुद्धिवृत्तिसे अतीत होता है, यह (प्रथमोल्लासमें टीकामें) स्पष्ट कर चुके हैं। तात्पर्य यह है कि वैराग्यसे शम नामक रति होती है और उससे भक्ति द्वारा पुर्ण सिद्धि या सन्तोष होता है इस सिद्धि या सन्तोषका ही कारण शम है ।। २४ ।।

अर्थ—इनसे अतिरिक्त चित्तकी द्रुति कहीं भी नहीं होती चित्तद्रुति न होनेसे इन आठोंके सिवा. जिनका कि निरूपण किया गया है, अन्य कोई स्थायीभाव नहीं है ।। २५ ।।

विवृति—काम, क्रोध, भय, स्नेह, शोक, हर्ष, दया और शम इन पूर्वोक्त भावोंके अतिरिक्त नौवाँ कोई भाव ऐसा नहीं जिससे चित्तद्रुति हो सके। स्थायीभाव वही कहलाता है जो चित्तको द्रवित कर सके अतः ये आठ ही स्थायीभाव हैं। इसीको आगे भी स्पष्ट करते हैं ।।२५।।

अर्थ—चित्तमें जितने प्रकारकी द्रुतियाँ होती हैं उतने ही भाव (स्थायी भाव) भी होते हे। ये ही स्थायीभाव विभावादिके आश्रयसे रसताको प्राप्त होते हैं ।। २६ ।।

विवृति—प्रथमोल्लासकी ५.७.८ कारिकाओंमें स्पष्ट किया गया है कि

धर्मोत्साहो दयोत्साहो जुगुप्सा त्रिविधा शमः ॥
षडप्येते न विषया भगवद्विषया न हि ॥ २७ ॥
धर्मवीरो दयावीरो वीभत्सः शान्त इत्यमी ॥
अतो न भक्तिरसतां यान्ति भिन्नास्पदत्वतः ॥२८॥

कामक्रोधादिसे ही चित्तद्रुति होती है और चित्तकी द्रुतावस्थामें जो वस्तु चित्तमें प्रविष्ट हो जाती हैं वह फिर उसे नहीं छोड़ती इसीलिये वस्तुका वह आकार चित्तमें स्थायी रहनेसे स्थायीभाव कहलाता है। फिर परम आनन्दतया व्यक्त हुआ रसताको प्राप्त होता है। इसीको यहाँ कामादिका निरूपण करनेपर स्पष्ट किया गया है कि पूर्वोक्त कामादिसे जितने प्रकारकी चित्तद्रुतियां होती हैं उतने ही स्थायीभाव होते हैं अर्थात् कामज द्रुतिसे संभोगविप्रयोगात्मक रतिरूप स्थायीभाव, क्रोधज द्रुतिसे द्वेष स्थायीभाव आदि। ये ही स्थायीभाव विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंसे सम्बद्ध होनेपर सहृदयों के हृदयको आह्लादित करने वाले रसरूपसे व्यक्त होते हैं ।.२६॥

अर्थ—धर्मोत्साह, दयोत्साह, तीन प्रकारकी जुगुप्सा और शम, ये छहों अन्यविषयक हैं भगवद्विषयक नहीं। भगवद्विषयतासे भिन्न होनेके कारण धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स और शान्त ये भक्तिरसको नहीं प्राप्त हो सकते ॥

विवृति—इन कारिकाओंका तात्पर्य यह है कि धर्मोत्साह आदि स्थायी भावोंसे जो धर्मवीर आदि रसोंकी प्रतीति होती है उन रसोंको भक्तिरसके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें पूर्ण चित्तद्रुति नहीं होती। और भक्ति रसका आस्वादन पूर्ण चित्तद्रुति होनेपर ही हो सकता है। जैसा कि प्रथमोल्लासकी दशवीं कारिकामें कहा गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि शृङ्गारादि भी पूर्ण रसताको तभी प्राप्त होते हैं जब उनका आलम्बन विभाव भगवान् हों, अर्थात् जब वे भगवद्विषयक हों।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि शास्त्रकारोंने धर्मको ही भगवत्प्राप्तिका साधन माना है जैसे "धर्मेण पापमपनुदति· तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति" इत्यादि, इसी प्रकार शम भी विषयोंसे मनुष्यको विमुख करता है और विषय वितृष्ण होनेपर ही भगवद्भक्ति हो सकती है फिर इन दोनोंसे भक्तिरसको भिन्न क्यों माना जाय? इसका समाधान यह है कि धर्म पापोंको दूर करता है और शम विषयोंसे विरक्ति, ये दोनों परम्परया भक्तिरसके

ईर्ष्याजभयजद्वेषौ भगवद्विषयावपि ॥
न भक्तिरसतां यातः साक्षाद् द्रुतिविरोधतः ॥ २६ ॥
शुद्धो रौद्ररसस्तत्र तथा रौद्रभयानकः ॥
नास्वाद्यः सुधिया प्रीतिविरोधेन मनागपि ॥ ३० ॥

प्रति साधन हो सकते हैं साक्षात् विषय नहीं। यदि इन्हें रसरूप माना जाय तो भी इनके आलम्बन विभाव भिन्न होते हैं जिसका आलम्बन भगवान् हो वही भक्तिरसका विषय है। जैसे—

राज्यं च वसु देहश्च भार्याभ्रातृसुताश्च ये।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम्॥

यह युधिष्ठिरका कथन उनके धर्मोत्साहको तो स्पष्टतया प्रकट करता है किन्तु इसमें भगवद्विषयता नहीं, अतः इसे भक्तिरसका प्रतिपादक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार शान्तरस विरागमूलक है जब कि भक्ति अनुराग-मूलक प्रसिद्ध है। यद्यपि शान्त रस हो सकता है या नहीं इस विषयमें रस-शास्त्रकारोंमें परस्पर ही मत वैपरीत्य है किन्तु वह प्रकृत ग्रन्थका विषय नहीं। यहाँ तो केवल यही दिखाना है कि शान्तका भक्तिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता ॥२७-२८॥

अर्थ—ईर्ष्याजन्य और भयजन्य द्वेष भगवद्विषयक होनेपर भी भक्ति रसताको नहीं प्राप्त होते क्योंकि उनसे साक्षात् चित्तद्रुति नहीं होती ॥२६॥

विवृति—पूर्व श्लोकमें यह निश्चय किया है कि भगवान् जिसमें आलम्बन हो वही भक्तिरस होगा किन्तु यदि ईर्ष्या और भयका आलम्बन भगवान् हो अर्थात् भगवान्से ईर्ष्या और भय होता हो तो तज्जन्य चित्त-द्रुतिमें भी भक्तिरस नहीं होता क्योंकि पूर्ण चित्तद्रुति तभी होती है जब रति भगवद्विषयक होती हुई प्रीत्यात्मक भी हो। ईर्ष्या और भय ये दोनों प्रीति विरोधी हैं और इनके स्थायीभावका रसास्वादन स्वतन्त्ररूपसे नहीं हो सकता ॥२६॥

अर्थ—इसलिये शुद्ध रौद्र तथा रौद्रभयानक ये दोनों रस प्रीतिविरोधी होनेसे बुद्धिमानों द्वारा किंचिद् भी आस्वादन योग्य नहीं हैं ॥३०॥

विवृति—द्वेष जिसका स्थायीभाव है वह रौद्ररस दो प्रकारका होता १—शुद्ध रौद्र, २—रौद्रभयानक। केवल ईर्ष्याजन्य द्वेष जिसका स्थायीभाव

कामजे द्वे रती शोकः प्रीतिर्भीर्विस्मयस्तथा ॥
उत्साहो युधि दाने च भगवद्विषया अमी ॥ ३१ ॥

हो वह शुद्ध रौद्र और भयमिश्रित द्वेष स्थायीभाववाला रौद्रभयानक कहलाता है। जैसे शिशुपालका कृष्णसे केवल ईर्ष्याजन्य द्वेष था (द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः—भागवत) वह शुद्ध रौद्र हुआ और कंसका भयमिश्रित द्वेष था (भयात् कंसः--भागवत) यह रौद्रभयानक हुआ। तात्पर्य यह है कि जैसे वीर, वीभत्स और शान्तरस भक्तिके परिपन्थी हैं (जैसा कि पहले व्यक्त कर चुके हैं) वैसे ही रौद्ररस भी भक्तिका परिपन्थी ही है क्योंकि उसमें भी भगवान्‌में प्रीति नहीं होती और भक्तिरसमें भगवद्विषयिणी प्रीति आवश्यक है।

यहाँ एक शंका यह होती है कि ग्रन्थकारने ग्रन्थके प्रारम्भमें प्रतिज्ञाकी थी "नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति" अर्थात् भक्तिरसको शृङ्गारादि नौ रसोंसे मिश्रित अथवा स्वतन्त्र रूपसे परमपुरुषार्थ रूप माना जाता है, किन्तु यहाँ शान्त, वीभत्स और रौद्ररसको भक्तिका परिपन्थी कहा गया है इस प्रकार तो ६ रसोंसे ही भक्तिका मिश्रण हो सकेगा और ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा भंग हो जायगी ?

इसका समाधान यही हो सकता है कि नौ रसोंसे कहना उपलक्षण मात्र है उसका तात्पर्य है नौ रस जो लोकमें प्रसिद्ध हैं उनमेंसे अधिक-से-अधिक जितने रसोंसे सम्भव हो उसका मिश्रण हो सकता है। वस्तुतः प्रकृत ग्रन्थ-कारके मतसे ९ रस भिन्न ही हैं, जैसा कि उन्होंने आगे ३३ वीं कारिकामें रसोंकी गणना की है—शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीतिभयानक, अद्भुत, युद्ध-वीर, दानवीर, वत्सल और प्रेयान् ये नौरस हैं और इन सबसे भक्तिरसका मिश्रण हो सकता है। 'केवलं वा' पदसे शुद्ध रतिस्थायीभावात्मक भक्तिरस स्वतन्त्र रूपसे ग्रहण किया है ॥३०॥

अर्थ—-कामज दो रतियाँ (सम्भोग और विप्रलम्भ), शोक, प्रीति-जनकभय, विस्मय, युद्धोत्साह और दानोत्साह ये भगवद्विषयक रसके भी स्थायीभाव हो सकते हैं ॥३१॥

विवृति—'जिन स्थायीभावोंसे अनेक रसोंका संमिश्रण हो और जिसे एक रसमें अनेक स्थायीभाव मिश्रित हों उनसे भक्तिकी भी अभिव्यञ्जना हो सकती है, यह दिखानेके लिए उनका परिगणन किया गया है। आगे भी इसीको स्पष्ट किया जा रहा है ॥३१॥

व्यामिश्रभावरूपत्वं यान्त्येते क्षीरनीरवत् ॥
विभावादिसमायोगे तथा भक्तिरसा अपि ॥ ३२ ॥
शृङ्गारः करुणो हास्यस्तथा प्रीतिभयानकः ॥
अद्भुतो युद्धवीरश्च दानवीरश्च मिश्रिताः ॥ ३३ ॥
शुद्धा च वत्सलरतिः प्रेयोरतिरिति त्रयी ॥
भावान्तरामिश्रितत्वादमिश्रा रतिरुच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ—ये (पूर्वश्लोकोक्त सात भाव) जल और दूधकी तरह परस्पर संमिश्रणको प्राप्त हो जाते हैं और जैसे इन भावोंसे उद्बोधित विभावादिके योगमें शृङ्गारादि रसोंकी प्रतीति होती है वैसे ही भक्तिरसकी भी होती है ॥

विवृति—जैसे दूध और पानी मिला दिये जाँय तो उनमें कुछ भी पार्थक्य नहीं रह जाता उसी प्रकार ये रस भी परस्पर मिल जाते हैं और यदि इनके आलम्बन विभावादि भगवान् हों अर्थात् ये भगवद्विषयक हों तो ये ही भक्तिरस भी कहे जाते हैं, यह तात्पर्य है ॥३२॥

अर्थ—शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीतिभयानक, अद्भुत, युद्धवीर औव दानवीर ये मिश्रित होते हैं ॥३३॥

विवृति—पूर्वश्लोकमें जिन भावोंका मिश्रित होना कहा था उनके रसों का नाम-निर्देश इस श्लोकमें किया गया है। जिस प्रकार भयमिश्रितद्वेष स्थायीभाववाला रस रौद्रभयानक कहा जाता है उसी प्रकार भयमिश्रित रति-स्थायीभाववाला प्रीतिभयानक शब्दसे कहलाता है। जैसे भगवद्गीता में विराट्रूपदर्शनके बाद अर्जुनने कहा—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥११॥

आदि इस प्रीतिभयानकके उदाहरण हैं ॥३३॥

अर्थ—शुद्धारति, वत्सलरति और प्रेयोरति ये तीनों अन्य स्थायीभावोंसे मिश्रित न होनेसे अमिश्रितरति कहलाती हैं ॥३४॥

विवृति—पूर्वश्लोकोंमें मिश्रभावों और मिश्र रसोंका दिग्दर्शन कराकर अब अमिश्रभावों और अमिश्ररसका निर्देशन कराते हैं—शुद्धा इत्यादि से। जिस प्रकार हास आदि भावोंका परस्पर मिश्रण हो जाता है वैसे इन रतियोंका किसी दूसरे भावसे मिश्रण नहीं होता इसलिये यह अमिश्रा रति

विशुद्धो वत्सलः प्रेयानिति भक्तिरसास्त्रयः ।।
रसान्तरामिश्रितास्ते भवन्ति परिपुष्कलाः ।। ३५ ।।

कहलाती है। शुद्धा रति यद्यपि केवल भगवद्विषयक ही होती है किन्तु वत्सल-रति और प्रेयोरति तो जैसे भगवद्विषयक होती है वैसे ही अन्य विषयक भी हो सकती हैं। फिर भी दूसरे स्थायीभावों से अमिश्रण तो उसमें भी रहता ही है ।।३४।।

अर्थ––विशुद्ध, वत्सल और प्रेयान् ये तीन भक्तिरस हैं जो रसान्तर से मिश्रित न होकर सर्वाङ्गपूर्ण हैं ।।३५।।

विवृति––ये रसान्तरसे अमिश्रित होनेसे परिपुष्कल अर्थात् सर्वाङ्गपूर्ण होते हैं अन्यरस रसान्तर-मिश्रित होनेसे सर्वाङ्गपूर्ण नहीं होते। पूर्वश्लोकमें जो तीन (शुद्धा, वत्सल और प्रेयोरति) स्थायीभाव कहे थे उन्हींके ये तीन रस हैं। विशुद्ध भक्तिरसका उदाहरण जैसे—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता,
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ।।
(पण्डितराज[1])

"हे मेरे जीव ! तूने दाखका स्वाद लिया, मिश्री खाई, मींठा दूध पिया, स्वर्गमें जाकर अमृत पान भी किया, रम्भादि अप्सराओं के ओठ भी कई बार चूमे, किंतु सच कहना बार-बार जन्ममरणके चक्करों में घूमते हुए तुमने यह माधुर्य कहीं देखा ? जो 'कृष्ण' इन दो अक्षरों में है ।।"

वत्सलभक्तिरस जैसे–

सुतमङ्गुलिभिः स्नुतस्तनी चिबुकाग्रे दधती दयार्द्रधीः।
समलालयदालयात् पुनः स्थितिभाजं व्रजराजगेहिनी ।।

"स्नेहसे जिनके स्तनों से दूध झर आया है ऐसी यशोदाजीको दया आ गई और आँगनमें खेलते हुए पुत्रको अंगुलियों से ठोढ़ी छूकर प्यार करने लगी ।।" अथवा—

---

१. अन्योक्ति विलास

शृङ्गारो मिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः ।
तीव्रतीव्रतरत्वं तु रतेस्तत्रैव वीक्ष्यते ॥ ३६ ॥
केचित् केवलसंकीर्णाः केचित् संकीर्णमिश्रिताः ॥
केचित् केवलमिश्राश्च शुद्धाश्च स्युश्चतुर्विधाः ॥ ३७ ॥

दोर्भ्यां-दोर्भ्यां व्रजन्त व्रजभवनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं
मन्दं-मन्दं हसन्तं मधुमधुरगिरा मेति-मेति ब्रुवन्तं ।
गोपालीपाणितालो–सतरुणवलयध्वानमुग्धान्तरालं
वन्देहं श्याममिन्दीवरविमलदृशं नन्दगोपालबालम् ॥

प्रेयोरति जैसे—

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥

"हे भगवन् ! आपके वासनाप्रवर्तक एकान्तके सकेत, हास्ययुक्त मुख, प्रेमपूर्ण अवलोकन तथा शोभाका घर विशालवक्ष.स्थल देखकर हमें सदा आपके ही साथ रहनेकी इच्छा होती है और हमारा चित्त मोहित हो रहा है" ॥३५॥

अर्थ--मिश्रित होने पर भी शृङ्गार उन सबसे अधिक बलवान् होता है क्यों कि रतिकी तीव्रता और तीव्रतरता उसीमें दिखाई देती है ॥३६॥

विवृति—पहिले कह चुके हैं कि त्रिविध भक्तिरसको छोड़कर शेष सभी रस मिश्रित होते हैं। इसी रीतिसे शृङ्गारभी कामादिसे मिश्रित रहता है। फिरभी अन्यरसोंकी अपेक्षा वह निरतिशय चमत्कारात्मक होता है क्योंकि रति-की तीव्रता (संभोगमें) और तीव्रतरता (विप्रलम्भमें) शृङ्गार में ही होती है। महाप्रकृतिकी अन्तर्निहित शोभाको प्रत्यक्षमें अभिव्यक्त करने वाला शृङ्गार ही है (श्रियं=शोभां गिरति इति शृङ्गारः) ॥३६॥

अर्थ—कोई रस केवल संकीर्ण होते हैं, कोई संकीर्णमिश्रित, कोई केवल मिश्रित और कोई शुद्ध, इस तरह रस चार प्रकार के होते हैं ॥३७॥

विवृति--रसोंके नौ भेद पहिले बताये गये हैं उनमें ही ये चार श्रेणियाँ की गई हैं। विजातीय रसोंका भावांतरसे सम्पर्क होना संकीर्णता है, जहां स्थायीभाव अन्यविषयक हो और रति भगवद्विषयक हो वह केवल संकीर्ण-

---

२. भा० ११।३१।१७

तत्र केवलसंकीर्णा रौद्रो रौद्रभयानकः ।।
धर्मवीरो दानवीरो वीभत्सः शान्त इत्यपि ।। ३८ ।।
मिश्रा एवान्यविषयाः प्रोक्ताः संकीर्णमिश्रिताः ॥
भगद्विषयास्ते तु ख्याताः केवल मिश्रिताः ।। ३९ ।।
शुद्धास्त्रयः पुरैवोक्ताः संकीर्य्यन्ते न केनचित् ।।
एवं निरूपिता भक्तिः संक्षेपादुच्यते पुनः ।। ४० ।।

कहलाता है। जहाँ आलम्बन विभाव भगवद्भिन्न हो और स्थायीभाव भी विजातीय हो किंतु रति भगवद्विषयक हो वह संकीर्ण-मिश्रित होता है। केवल मिश्रित और शुद्धरसों का वर्णन पूर्व में कर चुके हैं। कौन-कौन रस इन भेदों में किस प्रकार विभक्त होते हैं यह अग्रिम कारिकाओंमें स्पष्ट किया गया है ।।३७।।

अर्थ—शुद्ध, रौद्र, रौद्रभयानक, धर्मवीर, वीभत्स, और शान्त ये केवल संकीर्ण होते हैं ।।३८।।

विवृति—क्योंकि इनके स्थायीभाव क्रोधादि अन्यविषयक होनेसे विजातीय हैं और रति भगवद्विषयक हो तो ये केवल सङ्कीर्ण कहे जायेंगे। तात्पर्य यह है कि जो रस भक्तिरसत्व के योग्य नहीं वे केवल सङ्कीर्ण होते हैं ।।३८।।

अर्थ—पहिले कहे हुए मिश्ररस ही अन्यविषयक होने पर संकीर्णमिश्रित कहे जाते हैं और यदि वे ही भगवद्विषयक हों तो केवलमिश्रित कहलाते हैं ।।

विवृति—शृङ्गारः करुणो हास्यस्तथा प्रीतिभयानकः ।
अद्भुतो युद्धवीरश्च दानवीरश्च मिश्रिताः ।।

यह मिश्रित रसों की गणना इसी उल्लास की ३३ वीं कारिकामें की गई है ये ही भगवद्भिन्न आलम्बन विभावका आश्रय होने पर संकीर्णमिश्रित कहलाते हैं और भगवद्विषयक आलम्बन विभावाश्रित होनेपर केवल मिश्रित, यह भाव है ।। ३९ ।।

अर्थ—शुद्ध तीन रस पहिले कह दिये गये हैं वे किसीसे संकीर्ण नहीं होते इस प्रकार भक्तिका निरूपण किया है संक्षेपसे पुनः इसीको कहते हैं ।।

विवृति—शुद्धभक्ति, वत्सलभक्ति, और प्रेयोभक्ति ये शुद्धरस हैं, ऐसा ३४ वीं कारिकामें बताया गया है। यहाँ तक रसशास्त्रके अनुसार भक्तिका निरूपण किया है, इसके आगे योगके अनुसार करेंगे, उसीका उपक्रम दिखाते

राजसी तामसी शुद्धसात्विकी मिश्रिता च सा ॥
ईर्ष्याजद्वेषजाऽऽद्या स्याद् भयजद्वेषजा परा ॥ ४१ ॥
हर्षजा शुद्धसत्त्वोत्था कामशोकादिजेतरा ॥
सत्त्वजत्वे तु सर्वासां गुणान्तरकृता भिदा ॥ ४२ ॥

हैं कि अभीतक हमने जिस भक्तिका निरूपण किया अब वही संक्षेपमें फिर प्रकारान्तर से कहते हैं ॥ ४० ॥

अर्थ—राजसी, तामसी, शुद्ध सात्विकी और मिश्रिता। इनमें पहिली (अर्थात् राजसी) भक्ति ईर्ष्याजन्य द्वेषसे होती है। दूसरी (अर्थात् तामसी) भयजन्य द्वेषसे। तीसरी (शुद्धसात्विकी) हर्षजन्य होती है और चौथी (मिश्रिता) कामशोकादिसे जन्य होती है। यद्यपि इन चारोंका मुख्य कारण सत्त्वगुण ही है फिर भी दूसरे गुणों (रजः, तम) के उत्कट होजानेसे इसके ये भेद हो जाते हैं ॥४१॥

विवृति—अभीतक भक्तिरसका निरूपण किया था अब भक्तियोगका निरूपण किया जा रहा है। भगवान्ने गीतामें स्वयं ही अपने भक्तोंकी चार श्रेणियाँ बताई हैं—"आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ" इनमें अर्थार्थी राजस भक्त है क्योंकि अलौकिक जन्म-कर्मोंवाले परमेश्वरके तुल्य विभूतियोंकी उसे आकांक्षा होती है और उसे न पा सकता हुआ ही वह भगवान्से ईर्ष्या करता है। यही ईर्ष्याजन्य द्वेष उसकी राजस भक्ति होती है। रावण, शिशुपाल, हिरण्यकशिपु आदि इसी भक्तिके अधिकारी थे। परमेश्वरने इन भक्तोंको निग्रह द्वारा अनुगृहीत किया। आर्त तामस भक्तिका अधिकारी है। जैसे कि गीतामें ही भगवान्ने कहा है—

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः[१] ॥"

और भी—स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

ये सब तामस भक्त हैं। जिज्ञासु मिश्रित भक्त है। चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है। वह काम-क्रोधादि वृत्तियोंका भक्तिके द्वारा निरोध करके उन्हें ज्ञानमें परिणत करता हुआ अशान्त चित्तको ईश्वरमें लगाता है। ऐसे ही भक्तोंके लिये भगवान्ने कहा है—

---

१. गी० ९।३०,

तत्र ते रतितां नैव यातः सुखविरोधतः ॥
रतिशब्दं तु भजतः सुखमय्यौ परे द्रुती ॥ ४३ ॥

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्[1] ॥'

ज्ञानी शुद्ध सात्विक भक्त है । क्योंकि—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इस भगवद्वाक्यके अनुसार वह सम्पूर्ण मायामय प्रपञ्चोंको छोड़कर शोकरहित हो जाता है और "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" इस प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् उसे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर आनन्दसे मग्न कर देते हैं । इस प्रकार उसकी सारी भक्ति हर्षजन्य भक्ति होती है चार प्रकारके हर्षोंमें यहाँ वही हर्ष लिया गया है जो "एकः परानन्दमयश्रीशमाहात्म्यकारणात्" से कहा गया है ॥

यहाँ शङ्का यह होती है साङ्ख्यमतका प्रतिपादन करते हुए प्रकृत ग्रन्थकारने प्रथमोल्लासमें "एवंसति सुखाकारः प्रविष्टो मानसे यदा" कहा था । इसका तात्पर्य हुआ कि भक्ति सुखाकार ही होती है और सुख सत्त्वगुणका ही स्वरूप है जैसे कि कहा है—"तमोरजःसत्त्वगुणा मोहदुःखसुखात्मकाः" फिर राजस और तामस भक्तियाँ कैसी ? इसी प्रश्नका उत्तर देते हुए ग्रन्थकारने स्पष्ट किया है कि यद्यपि सभी भक्तियाँ सत्त्वगुणका ही परिणाम हैं फिर भी त्रिगुणात्मक शरीरके धर्म तो मिटाये नहीं जा सकते । इसलिये जब कभी रजोगुण और तमोगुण उत्कट होकर सत्त्वको अभिभूत कर लेते हैं तब राजसी और तामसी भक्तियाँ होती हैं । जब सब समावस्थामें रहते हैं तब मिश्रित भक्ति और शुद्ध सत्त्वकी उत्कटतामें शुद्ध सात्त्विकी भक्ति होती है ॥ ४१-४२ ॥

अर्थ—उक्त चारों भक्तियोंमें प्रथम दो (राजसी और तामसी) सुखविरोधी होनेसे रतिताको नहीं प्राप्त हो सकती । अन्तिम दो (मिश्रित और शुद्धसात्त्विकी) सुखमयी होनेसे रति कही जाती हैं ॥४३॥

विवृति—राजसी और तामसी भक्ति ईर्ष्याजन्य तथा भयजन्य द्वेषसे उत्पन्न होती है ईर्ष्या और भयसे दुःख ही होता है सुख नहीं अतः सुखवि-

---

१. गी० ९।२७,

भक्तिश्चतुर्विधाऽप्येषा भगवद्विषया स्थिरा ॥
दृष्टादृष्टोभयैकैकफला भक्तिस्त्रिधा भवेत् ॥ ४४ ॥
राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमात्रभाक् ॥
दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिता भक्तिरिष्यते ॥ ४५ ॥
शुद्धसत्त्वोद्भवाऽप्येवं साधकेष्वस्मदादिषु ॥
दृष्टमात्रफला सा तु सिद्धेषु सनकादिषु ॥ ४६ ॥

रोधिनी होनेसे इनमें रति नहीं होती जैसा कि तीसवीं कारिकामें ग्रन्थकारने स्पष्ट किया है—

शुद्धो रौद्ररसस्तत्र तथा रौद्रभयानकः ।
नास्वाद्यः सुधिया प्रीतिवियोगेन मनागपि ॥

शेष दो (मिश्रिता और सात्त्विकी) में रति होती है क्योंकि इनमें चित्त-द्रुति पूर्णतया होती है जो रतिका मुख्य कारण है ॥ ४३ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त चारों प्रकारकी भक्ति यदि निश्चलरूपसे भगवद्विषयिणी हो तो पुनः तीन प्रकारकी होती है—दृष्टफला, अदृष्टफला दृष्टादृष्टफला । राजसी और तामसी भक्ति अदृष्टफला ही है, मिश्रिता भक्ति दृष्ट और अदृष्ट फलवाली है, शुद्धसत्त्वजन्य भक्ति भी हम जैसे (ग्रन्थकार-मधुसूदन सरस्वती जैसे) साधकोंके लिये दृष्टादृष्टफला और सनकादि जैसे सिद्धोंके लिये दृष्टमात्र फलवाली होती है ॥४४-४६॥

विवृति—दृष्ट और अदृष्टका अर्थ है दिखाई देनेवाला और न दिखाई देनेवाला, इसीको दूसरे शब्दोंमें ऐहलौकिक और पारलौकिक कह सकते हैं । राजस और तामस भक्तिका फल इहलोकमें नहीं होता क्योंकि रजोगुण दुःख-मय और तमोगुण मोहमय है । भक्ति सुतरां सुखमयी है जैसे कि पहले कह चुके हैं । इसलिये जिस शरीरमें रजस् या तमकी उत्कटता है उससे भक्तिके फल सुखका उपभोग कैसे हो सकता है अतः राजसी और तामसी भक्ति जन्मान्तर या मृत्यूपरान्त यह देह छोड़ देनेपर ही फलदा हैं । जैसे हिरण्य-कशिपु, शिशुपाल आदि मरनेपर ही भगवत्सायुज्यको प्राप्त हुए । यह अदृष्ट-फला हुई । कामादि से मिश्रित भक्ति इहलोक और परलोक दोनोमें फलप्रद होती है क्योंकि उसमें भगवत्कृपासे पापोंका क्षय हो जाता है और ऐहिक-सिद्धियाँ भी प्राप्त होने लगती हैं, पारलौकिक तो हैं ही, अतः वह दृष्टादृष्टफला

दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि ।।
निदाघदूनदेहस्य गंगास्नानक्रिया यथा ।। ४७ ।।
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टांशः प्रतिबध्यते ।।
शीतवातातुरस्येव नादृष्टांशस्तु हीयते ।। ४८ ।।

है। शुद्धसत्वजन्य भक्ति दो प्रकारकी है--साधकनिष्ठा और सिद्धनिष्ठा। जहाँ तक साधकनिष्ठा का प्रश्न है उसके लिये भक्ति दृष्टादृष्टफला ही होगी क्योंकि साधनावस्थामें संसार तो छूटता नहीं इसलिये उसे दोनों (ऐहिक और पारलौकिक) सिद्धियाँ अपेक्षित हैं। परन्तु सिद्धावस्थामें तो परलोकका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह जीवन्मुक्त हो जाता है और उसकी भक्ति अहैतुकी भक्ति रह जाती है। अतः सिद्धोंके लिये केवल दृष्टफला ही भक्ति रहती है। उनके लिये अदृष्ट तो है ही नहीं ।। ४४--४६ ।।

अर्थ—प्रत्यक्षतः सुखकी प्रतीति और भक्तिविधायक शास्त्रोंसे स्पष्ट होता है कि भक्ति दृष्टादृष्टफला है, जैसे कि ग्रीष्मसे संतप्तव्यक्तिके लिये गंगास्नान ।।४७।।

विवृति—ग्रीष्मसे संतप्त व्यक्ति जब गंगास्नान करता है तब उसका संताप दूर होकर उसे शीतलता प्राप्त होती है, यह दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष फल है। गंगास्नानसे जो पुण्य और पापक्षय होता है वह अदृष्टफल हुआ, (सामान्य जलसे स्नान करनेपर केवल दृष्टफल ही होगा अदृष्ट फल नहीं, गंगास्नानसे ही दोनों फल होंगे)। इसी प्रकार जैसे गंगास्नान दृष्टादृष्टफलक है वैसे ही भक्तिसे भी भगवद्विषयक आह्लादसे दृष्टफल और "आत्मेत्येवोपासीत" "तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्" आदि भक्तिविधायक शास्त्रोंसे अदृष्टफल भक्तिका स्पष्ट है ।। ४७ ।।

अर्थ—रजोगुण और तमोगुणसे जब सत्त्वगुणका अंश अभिभूत रहता है तब भक्तिके दृष्टफलमें प्रतिबन्ध लग जाता है किन्तु अदृष्टफल क्षीण नहीं होता जैसे शीत, वात आदिसे आतुर व्यक्ति यदि गंगास्नान करे तो उसे दृष्टफलकी प्रतीति नहीं होती किन्तु उसका अदृष्टफल नष्ट नहीं होता ।।४८।।

विवृति—तात्पर्य यह है कि जैसे ग्रीष्मसंतप्त व्यक्तिको गंगास्नानसे प्रत्यक्ष शीतलताका अनुभव होकर वह सुखी होता है वैसे शीताक्रान्त व्यक्ति

तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते ।
स्नात्वा भुक्तवतां भूयो गङ्गायां क्रीडतां यथा ।। ४९ ॥
वर्तमानतनुप्राप्यं फलं दृष्टमुदाहृतम् ।
भाविदेहोपभोग्यं यत्तददृष्टमुदीरितम् ।। ५० ।।

गंगास्नान करनेपर सुखी नहीं होता, उसे और अधिक शीत सताने लगता है। इसलिये उसे दृष्टफल तो नहीं होता किन्तु गंगास्नानसे जो पापक्षयरूप अदृष्टफल होता है वह तो उसे भी होगा ही। इसी प्रकार रजस् और तमस् अभिभूत चित्त अशांत रहता है उसमें भगवद्विषया रति हो ही नहीं सकती इसलिये आनन्दानुभूति कैसे होगी ? किन्तु अदृष्टफलको तो कोई रोक नहीं सकता। जैसे शिशुपाल, रावण आदि को कभी भगवद्विषयक रतिका अनुभव नहीं हुआ किन्तु अदृष्टफल भगवत्सायुज्य प्राप्त हो गया ।। ४८ ।।

अर्थ—उसी प्रकार जीवन्मुक्तोंका अदृष्टफलांश प्रतिबन्धित रहता है जैसे नहा-धोकर भोजन करनेके बाद कोई गंगाजीमें तैरने जावे तो उसे गंगा-स्नान जन्य पापक्षयरूप फल नहीं प्राप्त होता ।।४९।।

विवृति—गंगास्नानका पुण्य तभी होगा जबकि स्नानकालमें श्रद्धासे गंगास्नान किया जाय। एक बार स्नान करके संध्यावन्दनादि नित्यक्रिया और भोजन करलेनेपर फिर यदि तैरने या जलक्रीड़ाकी दृष्टिसे गंगामें उतरे तो उससे क्रीड़ाजन्य दृष्टफल तो होगा किन्तु पापक्षयरूप अदृष्टफल नहीं होता। उसी प्रकार जीवन्मुक्तोंको भी भक्तिका परमाह्लाद रूप दृष्टफल तो होता है किन्तु अदृष्टफल नहीं होता, क्योंकि जीवन्मुक्तोंका वही शरीर अन्तिम होता है अदृष्टका फल भोगनेके लिये उन्हें दूसरे शरीरकी उपलब्धि होती ही नहीं। विहितकर्मोंसे ही अदृष्ट या धर्माधर्म होते हैं किन्तु जीवन्मुक्तोंके सारे कर्म ज्ञानाग्निद्वारा भस्म हो जाते हैं अतः उन्हें इस अन्तिम शरीरमें ही जो भक्तिका आनन्द प्राप्त है उसीसे वे तृप्त हो जाते हैं अदृष्ट की उन्हें आवश्यकता ही नहीं रहती ।। ४९ ।।

अर्थ—वर्तमान शरीरके द्वारा भोगनेयोग्य फल दृष्ट कहा गया है और आगामी देहसे भोगनेयोग्य जो फल है उसे अदृष्ट कहते हैं ।।५०।।

विवृति—आगामी देह जिसे होगी वही अदृष्टका भोग करेगा जीवन्मुक्तों एवं सिद्धोंको पुनः देह नहीं प्राप्त होती क्योंकि वे जीवन-मरणके चक्रसे छूट जाते हैं। जैसा कि महाभारतमें सनत्सुजातने कहा है—

रजस्तमःप्रचण्डत्वे सुखव्यक्तिरसत्समा ॥
तीव्रवायुविनिक्षिप्तदीपज्वालेव भासते ॥ ५१ ॥
तस्मात्स्वयंप्रभाऽऽनन्दाकाराऽपि मतिसंततिः ॥
प्रतिबन्धकवशान्न स्यात्सुखव्यक्तिपदास्पदम् ॥ ५२ ॥

एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः ॥
विनश्यते विषये तस्य मृत्युर्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥

अर्थात् ज्ञानी जब यह जानलेताहै कि क्रोधादि निमित्त कारणोंसे भौतिक शरीरमें मृत्यु उत्पन्न होती है, तब वह अक्रोधादि ज्ञानसाधनों द्वारा मृत्युको जीत लेता है। इस प्रकार जैसे मृत्यु सामान्य जनोंको ग्रसती जाती है वैसे ही ज्ञानी मृत्युको स्वयं ग्रसता जाता है ॥५०॥

अर्थ--रजोगुण और तमोगुणकी प्रबलतामें सात्त्विक सुखकी अभिव्यक्ति ऐसे ही क्षीण हो जाती है जैसे तीव्रवायुके झोकोंसे हिलाई गई दीपककी लौ समुचित रूपसे प्रकाश नहीं कर पाती ॥५१॥

विवृति--जिस प्रकार सुवर्णमें अधिक मात्रामें दूसरी धातु मिला दी जाय तो उसका मूल्य कम हो जाता है क्योंकि उसमें शुद्ध अंश कम और दूसरी धातुका अंश प्रबल होता है। इसी प्रकार चित्तमें भी जब राजस और तामस आवरणोंकी मलिनता बढ़ जाती है तब सच्चित् स्वरूप आत्मा भी जीवभावमें तिरोहित हो जाता है। इसीको दीपकका उदाहरण देकर समझाया है। जब दीप निश्चल रहता है तो वह समुचित रूपसे प्रकाश देता है किंतु जब तेज हवाके झोंके चलते हैं तब या तो वह बुझ जाता है या इधर-उधर डुलनेसे उसकी लौ मन्द पड़ जाती है। जब चित्तमें सात्त्विक भाव प्रबल होता है तब भगवद्विषया रति होने से सुखाभिव्यक्ति स्वाभाविक है किंतु जब राजस या तामस भाव बढ़ जाते हैं तब भगवद्विषयक रत्यात्मक सुखकी प्रतीति क्षीण हो जाती है। इसीको अगली कारिकामें स्पष्ट करते हैं ॥५१॥

अर्थ--इसलिये स्वयं प्रकाशसे चैतन्यरूप आनन्दाकार जिसमें होता है ऐसी धारावाहिकी मनोवृत्ति प्रतिबन्ध के कारण भक्ति सुखाभिव्यक्ति के योग्य नहीं होती ॥५२॥

रजः प्रवलसत्त्वांशादीर्ष्याजद्वेषमिश्रिता ।।
मनोवृत्तिः परानन्दे चैद्यस्य न सुखायते ।। ५३ ।।
तमः प्रवलसत्त्वांशाद् भीतिजद्वेषमिश्रिता ।।
मनोवृत्तिः परानन्दे कंसस्य न सुखायते ।। ५४ ।।
तयोर्भाविशरीरे तु प्रतिबन्धक्षये सति ।।
सैव चित्तद्रुतिर्भक्तिरसतां प्रतिपद्यते ।। ५५ ।।

विवृति--पूर्व कारिकामें स्पष्ट कर दिया है कि रजोगुण तमोगुणकी वृत्तियाँ मनको अशान्त कर देती हैं जैसा कि रजोगुणसे प्रभावित मनके दोष प्रह्लादने कहे हैं--

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधुतीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ।।

"हे वैकुण्ठनाथ ! रजोगुणसे आक्रान्त यह मन आपकी कथाओंमें नहीं रमता, पाप वासनाओंसे दूषित रहता है, साधुके पास नहीं जाता, कामातुर हुआ हर्ष शोक भय तृष्णा और त्रिविध एषणाओं (लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा) से व्याकुल रहता है। ऐसे मनमें भला, मैं दीन आपके स्वरूपका ध्यान कैसे कर सकता हूँ" आदि ।।५२।।

अर्थ--प्रवल रजोगुण द्वारा सत्त्वांशके अभिभूत होनेसे शिशुपालकी मनोवृत्ति ईर्ष्याजन्य द्वेषसे मिश्रित थी इसीलिये भगवद्विषयमें वह सुख देनेवाली नहीं हुई प्रवल तमोगुण द्वारा सत्त्वांशके अभिभूत होनेसे कंसकी मनोवृत्ति भयजन्य द्वेषसे मिश्रित थी इसीलिये भगवद्विषयमें वह सुख देनेवाली नहीं हुई ।।५३-५४।।

विवृति—इन कारिकाओंका विवरण पहिले ही आ चुका है अतः स्पष्ट हैं ।।५३-५४।।

अर्थ—उन दोनों (शिशुपाल और कंस) की वही चित्तद्रुति अगले जन्ममें पूर्व प्रतिबन्धका नाश हो जानेसे भक्तिरसताको प्राप्त हो जाती है ।।

विवृति--साक्षात् भगवान्‌के हाथसे मृत्यु पाकर अन्तिम समयमें भगवद्दर्शन करते हुए शरीर छोड़नेसे शिशुपाल कंसादिकी शापसे मुक्ति हो जाती है और उनका राजस या तामस भाव नष्ट हो जाता है। "भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे" और "ददर्श चक्रायुधमग्रतो यस्तदेव

अधुनाऽपि भजन्तो ये द्वेषात् पाशुपतादयः ।।
तेषामप्येवमेव स्यादथवा वेनतुल्यता ।। ५६ ।।
द्रुतौ सत्यां भवेद् भक्तिरद्रुतौ तु न किंचन ।।
चित्तद्रुतेरभावेन वेनस्तु कतमोऽपि न ।। ५७ ।।

रूपं दुरवापमाप" आदि वाक्योंके अनुसार वे भगवल्लोकको प्राप्त हो जते हैं। इसलिये इस शरीरके राजस और तामसभाव इसी शरीरके साथ नष्ट हो जाते हैं तब अगले शरीरमें शुद्ध सात्त्विक भाव ही रह जाता है और वही सात्त्विकी चित्तद्रुति भक्तिरसताको प्राप्त हो जाती है ।।५५।।

अर्थ—इस समय भी जो पाशुपत आदि द्वेषसे भगवान्‌का भजन करते हैं उनका भी शिशुपालादिकी तरह ही या तो जन्मान्तरमें उद्धार हो जाता है या फिर वे नास्तिक राजा वेनकी तरह दुर्गतिको प्राप्त होते हैं ।।५६।।

विवृति—पाशुपत दर्शनके अनुसार अविवेकी जीव ही पशु-कार्य है और पशुपति (ईश्वर) ही इस जीवका निमित्त कारण है। जीवका पशुपतिमें मनको लगाना ही योग है, भस्मधारण आदि कई उस अंगकी विधियाँ हैं और दुःखान्त नामक मोक्ष इसका प्रयोजन है। आदि कहनेसे सौर, गाणपत, शाक्त आदि अन्य मत लिये गये हैं। इन भेदवादियोंको भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंमें द्वेष होता है। प्रकृत ग्रन्थकारका कथन है कि भेदवादी भी यदि भगवान्‌से द्वेष एकात्मभावसे रखते हों तो उनको भी शिशुपाल आदिकी तरह अगले जन्ममें भक्तिरसका आस्वादन हो सकता है क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं गीतामें (९।२३) कहा है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।

"जो दूसरे देवताओंके भक्त होकर श्रद्धापूर्वक उनका पूजन करते हैं वे भी हे अर्जुन मेरी ही पूजा करते हैं किन्तु अविधिपूर्वक।

इस प्रकार उन्हें अदृष्टफला भक्ति मिल सकती है किन्तु यदि वे द्वेष तो करते हों पर वह द्वेष भी उनका शिशुपाल या हिरण्यकशिपुकी तरह दृढ़ न हो तो वे राजा वेनकी तरह दुर्गतिको ही प्राप्त होंगे ।।५६।।

अर्थ—भगवान्‌के विषयमें चित्तद्रुति होनेपर ही भक्ति होती है चित्तद्रुति न होनेसे ही वेन कहीं का न रहा ।।५७।।

रजस्तमोविहीना तु भगवद्विषया मतिः ॥
सुखाभिव्यञ्जकत्वेन रतिरित्यभिधीयते ॥ ५८ ॥ *

विवृति—प्रथम उल्लासमें बता चुके हैं कि द्रवीभूत चित्तमें जो भगवदाकार बैठा दिया जाता है वही भाव है और वही रसरूपसे अभिव्यक्त होता है। भले ही वह द्रवीभाव द्वेषसे हुआ हो। किन्तु वेन राजाका तो इस प्रकार दृढ़द्वेष भी न था कि चित्तद्रुति होकर शिशुपालादिकी तरह भगवत्सायुज्यको प्राप्त हो सके। जैसा कि भागवतमें कहा है—

को वैनं परिचक्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम्।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः[1] ॥

"जो ऐश्वर्य प्रभुके अनुग्रहके बिना सुलभ नहीं हो सकता उसे प्राप्त करनेपर भी जो ईश्वरका कृतज्ञ नहीं होता ऐसा इस दुष्ट वेनके सिवा और कौन होगा ॥५७॥

अर्थ—रजोगुण और तमोगुणके प्रतिबन्धकोंसे रहित जो भगवद्विषयिणी एकाग्र चित्तकी वृत्ति होती है वही सुखाभिव्यञ्जक होनेसे रति कहलाती है ॥

*अच्युत ग्रन्थ माला काशी से प्रकाशित पुस्तक में इसके आगे निम्नांकित कारिका अधिक है जो प्रक्षिप्त जान पड़ती है। क्योंकि सारा ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्दोंमें है केवल यही आर्या छन्द बीचमें आया है। साथ ही इस कारिकामें जो रतिका लक्षण किया गया है उसके अनुसार स्नेहसे अतिरिक्त जो चित्तद्रावक स्थल हैं उनमें यह लक्षण नहीं घटता। अतः यह प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है। कारिका इस प्रकार है—

स्नेहस्यैव विकारः प्रिययोरत्यन्तभावनादनिशम्।
विरहासहिष्णुताऽऽत्मा प्रीतिविशेषो रतिर्नामा ॥

अर्थात् दोनों प्रेमियों (जो प्रेम करता है और जिससे करता है वे दोनों अर्थात् भक्त और भगवान्) के प्रकट स्नेहके निरन्तर बढ़नेसे एक दूसरेके विरहकी अत्यन्त असहिष्णुता रूप जो प्रेम विशेष है स्नेहका वही परिणाम रति कहा जाता है। इसीको दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि स्नेहका आश्रय जो भक्त है उसका स्नेहके आलम्बन भगवान्के साथ सम्बद्ध जन्मान्तरीय प्रीति विशेष ही विरह रूपमें रति कहलाता है ॥

१. भा० ४।१४।२३

रजस्तमः समुच्छेदतारतम्येन गम्यते ॥
तुल्येऽपि साधनाभ्यासे तारतम्यं रतेरपि ॥ ५६ ॥
विरहे यादृशं दुःखं तादृशी दृश्यते रतिः ॥
मृदुमध्याधिमात्रत्वाद् विशेषोऽपि हि वक्ष्यते ॥ ६० ॥

विवृति—सुखकी अभिव्यक्तिके प्रतिबन्धक राजस और तामस भाव जब नष्ट हो जाते हैं तब भगवद्विषयिणी ही एकाग्र मनोवृत्ति हो जाती है जो शुद्ध सात्त्विकी और मिश्रिता भक्तिमें होती है ॥५८॥

अर्थ—(भगवद्गुणश्रवणादि) साधनोंका अभ्यास समान होनेपर भी रजोगुण और तमोगुणके नाशकी न्यूनाधिकतासे रतिकी भी न्यूनाधिकता होती है ॥५६॥

विवृति—मानव शरीर त्रिगुणात्मक है इसलिये उसमें कोई भी एकगुण सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हो जायगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। हाँ न्यूनाधिकता (तारतम्य) अवश्य होता है। जब राजस् या तामस् भावों की उत्कटता रहती है तब तो रति होती ही नहीं, यह पहिले कह चुके हैं। शुद्ध सात्विकी और मिश्रित भक्ति में ही रति होगी किंतु उसमें भी रजोगुण और तमोगुण थोड़ी बहुत मात्रामें तो रहेंगे ही, प्रबलता उनकी भले ही न रहे। अतः जिसमें जितनी कम मात्रामें वे रहेंगे और जितनी अधिक मात्रामें सत्त्वगुण रहेगा उतनी ही अधिक मात्रा रतिकी होगी। इसलिये सबकी रति एक समान नहीं हो सकती। उसमें अपने-अपने गुणों के अनुसार न्यूनाधिक्य होना स्वाभाविक है ॥५६॥

अर्थ—विरहमें जैसा दुःख होता है वैसी ही रति देखी जाती है उसमें भी मृदु मध्य और अधिक मात्रामें होना यह विशेष देखा जाता है ॥६०॥

विवृति—पूर्व कारिकामें रतिकी न्यूनाधिकताका जो वर्णन किया था उसी पर यह शंका होती है कि रतिकी न्यूनाधिकताका परिज्ञान कैसे होगा ? इसीका निराकरण इस कारिकामें किया गया है। तात्पर्य यह है कि भगवान् के विरहमें जिसे जितने अधिक मात्रामें दुःख होगा उसकी उनपर उतनी ही अधिक मात्रामें रति समझी जायगी। जैसे लोकमें कहा जाता है अमुक व्यक्ति सुखी है क्योंकि धनी है, जब धन होनेसे सुख आँका जा रहा है तो जिसके पास जितनी अधिक मात्रामें धन होगा वह उतनी ही अधिक मात्रामें सुखी

वैकुण्ठे द्वारकायां च श्रीमद्वृन्दावने तथा ॥
मृदुतीव्रा मध्यतीव्रा तीव्रतीव्रा च सा क्रमात् ॥ ६१ ॥

भी होगा। इसीलिये इस रतिके तीन भेद किये हैं—मृदुमात्रा, मध्यमात्रा और अधिक मात्रा। इनके उदाहरण अगली कारिकामें दिये गये हैं ॥६०॥

अर्थ—वैकुण्ठमें, द्वारिकामें और श्रीमद्वृन्दावनमें वह रति क्रमसे मृदुतीव्रा, मध्यतीव्रा और तीव्रतीव्रा अर्थात् अतितीव्रा अनुभव की जाती है ॥

विवृति—जिस प्रकार प्राकृत, मध्यम और उत्तम ये भक्तोंकी तीन श्रेणियाँ कही हैं उसी प्रकार उत्तम भक्तकी भी भगवद्विषयक रतिमें मृदुतीव्रा मध्यतीव्रा और तीव्रतीव्रा भेदसे तारतम्य होता है। इसीको स्थान-भेदसे प्रकृत कारिकामें दिखाया है। वैकुण्ठ श्रीविष्णुका धाम है। विष्णु लक्ष्मीके पति हैं, वहाँ कामनाका संसर्ग होना स्वाभाविक है। इसीलिये वह मृदुतीव्रा रतिका स्थान है। द्वारकामें भगवान्‌ने राजस् लीलाएँ की हैं, वहाँ अहंकारका संसर्ग है, अतः मध्यतीव्रा रति है। किंतु वृंदावन भगवान् का नित्य धाम है, वहाँ की प्रत्येक लीलामें शुद्धसत्त्व विराजमान है इसीलिये उसके साथ श्रीमद् विशेषण लगाया है। पद्म, स्कन्द आदि पुराणों में वृन्दावनकी प्रचुर महिमा गाई गई है और वहाँ की लीलाको नित्यलीला कहा है—

दास्यः सखायः पितरौ प्रेयस्यश्च हरेरिह ।
सर्वे नित्या मुनिश्रेष्ठ वसन्ति गुणशालिनः ॥

वृन्दावनकी लीलामें माधुर्य रसकी निर्झरिणी प्रवाहित हुई है। इसी लिये यत्र तत्र कवियोंने तत्रत्य लीलानायक भगवान् कृष्णको ब्रह्मरूपेण गाया है—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टः ।
धूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

और भी—बर्हापीडाभिरामं मृगमदतिलकं कुण्डलाक्रान्तगण्डं
कञ्जाक्षं कम्बुकण्ठं स्मितसुभगमुखं स्वाधरे न्यस्तवेणुम् ।
श्यामं शान्तं त्रिभङ्गं रविकरवसनं भूषितं वैजयन्त्या
वन्दे वृन्दावनस्थं युवतिशतवृतं ब्रह्म गोपालवेषम् ॥

और भी—कोमलं कूजयन् वेणुं श्यामलोऽयं कुमारकः ।
वेदवेद्यं परं ब्रह्म भासतां पुरतो मम ॥ आदि २ ।

इसलिये वृन्दावनमें तीव्रतीव्रा भक्ति स्वाभाविक है ॥६१॥

इयं निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा ॥
संप्रयोगाभिमानाभ्यां समारोपे स्थिता तथा ॥६२॥ *
स्पर्शे शब्दे तथा रूपे रसे गन्धे च केवले ॥
समुच्चिते च सा तत्रेत्येकैका षड्विधा भवेत् ॥ ६३ ॥

अर्थ--यह (पूर्वोक्त मृदुतीव्रा, मध्यतीव्रा और तीव्रतीव्रा) तीन प्रकारकी भक्ति निसर्ग, संसर्ग, औपम्य, अध्यात्म, अभियोग, संप्रयोग, अभिमान और समारोपसे उत्पन्न होती है और धीरे-धीरे बढ़कर पूर्णरूपता को प्राप्त होती है ॥६२॥

विवृति—निसर्गजा-जन्मान्तरीय सुदृढ़ अभ्याससे जन्य संस्कार निसर्ग कहलाता है। तज्जन्यभक्ति निसर्गजा होती है। तात्पर्य यह है कि इस भक्त को स्वभावतः भगवान्में रुचि होती है।

संसर्गजा—कुलरूपादिके गौरव का सम्बन्ध ही संसर्ग कहलाता है अर्थात् भगवान् के संबंध (संसर्ग) से जन्य भक्ति संसर्गजा है।

औपम्यजा—भगवत्सादृश्य देखकर उत्पन्न हुई भक्ति औपम्यजा है।

अध्यात्मजा--इसी को स्वरूपजा भी कहते हैं यह स्वतः सिद्ध स्वरूपसे उत्पन्न होनेवाली भक्ति है।

अभियोगजा--भावाभिव्यक्ति ही अभियोग है और तज्जन्य भक्ति अभियोगजा है।

संप्रयोगजा--संप्रयोगका अर्थ है संभोग, तज्जन्यरति संप्रयोगजा है।

अभिमानजा--अन्य सभी वस्तुओंको चाहे वह कितनी ही उपयुक्त हों, छोड़कर केवल भगवान्में ही अभिनिवेश होना अभिमान कहलाता है। तज्जन्य भक्ति अभिमानजा है।

समारोपजा--इसीको वैषयिकी भी कहते है। क्योंकि यह शब्दस्पर्शादि विषयों से उत्पन्न होती है ॥

अर्थ—यह एक भक्ति स्पर्श, शब्द, रूप, रस तथा गन्ध इन पाँच विषयों-को केवल तथा समुच्चय रूपसे ग्रहण करती हुई छ प्रकार की होती है ॥६३॥

* यह कारिका अच्युतग्रन्थमाला से प्रकाशित पुस्तक में है अन्य पुस्तकों-में नहीं।

शुद्धा व्यामिश्रिता चेति पुनरेषा द्विधा भवेत् ।।
तत्रानुपाधिः शुद्धा स्यात्सोपाधिर्मिश्रितोदिता ।। ६४ ।।
अनुपाधिः परानन्दमहिंमैकनिवन्धना ।।
भजनीयगुणानन्त्यादेकरूपैव सोच्यते ।। ६५ ।।
कामसंवन्धभयतः सोपाधिस्त्रिविधा भवेत् ।।
विभावादिसमायोगे शुद्धभक्तिरसो भवेत् ।। ६६ ।।

विवृति—भगवान् के केवल स्पर्श से पुलकित होना, शब्द से आकृष्ट होना, रूपपर मुग्ध हो जाना, रसका लोलुप रहना और गन्धकी आमोद से तृप्त रहना अथवा इन सबका एक साथ अनुभव करना, ये छ प्रकार हैं। इस तरह मृदुतीव्रा, मध्यतीव्रा और तीव्रतीव्रा इन तीनों में प्रत्येक के ये छ भेद होकर दस भेद हुए ।।६३।।

अर्थ—शुद्धा और व्यामिश्रिता रूप से यह पुनः दो प्रकार की होती है। उपाधि रहित शुद्धा और उपाधि सहित मिश्रिता कहलाती है ।।६४।।

विवृति—"राजसी तामसी शुद्धसात्विकी मिश्रिता च सा" यह पहिले कह चुके हैं। इनमें राजसी और तामसी तो रति न होने से यहाँ नहीं ली गई, शुद्ध सात्विकी और मिश्रिता का लक्षण किया गया है। निरुपाधि और सोपाधिसे तात्पर्य भगवान्के मायारहित निर्गुण और मायाविशिष्ट सगुण स्वरूपसे है। अगली कारिकाओं में इसका विवेचन किया गया है ।।६४।।

अर्थ—निरतिशय आनन्द स्वरूप भगवान्की महिमासे अंकुरित होने-वाली भक्ति भगवद्गुणों के अनन्त (असंख्य) होनेसे एकरूपा ही कही जाती है। ६५।।

विवृति—जिस प्रकार सम्भोग शृङ्गार चुम्बनालिंगनादि भेदों से और विभिन्न नायक-नायिकाओं द्वारा प्रयुक्त उनके विविध प्रकारों से असंख्य भेदोंवाला होता हुआ भी एक ही प्रकारका (सम्भोगरूप) माना जाता है वैसे ही भगवान्के अनन्त गुण और भक्तोंके तत्तादनुभवास्वादके अनन्त प्रकार होनेपर भी यह केवल अनुपाधि रूप एक ही प्रकार माना गया है ।।६५।।

अर्थ—विभावादिके योगमें शुद्ध भक्तिरस होता है। सोपाधिक रति काम, सम्बन्ध और भयसे तीन प्रकारकी होती है ।।६६।।

विवृति—तात्पर्य यह है कि जब भक्तिरसके विभाव, अनुभाव और

श्रृङ्गारमिश्रिता भक्तिः कामजा भक्तिरिष्यते ।।
संबन्धजा रतिर्याति पूर्वोक्तां रसतां द्वयोः ।। ६७ ।।
एको वत्सलभक्त्याख्यः प्रेयोभक्तिस्तथाऽपरा ।।
भयजा रतिरध्यास्ते रसं प्रीतिभयानकम् ।। ६८ ।।
एकदैव यदि व्यक्तमिदं रतिचतुष्टयम् ।।
तदा तु पानकरसन्यायेन परमो रसः ।। ६९ ।।

संचारीभाव एकत्र होते हैं और भक्तिरस-स्थायिनी रति आश्रयगत अन्य भावों-से संकीर्ण नहीं होती तब वह शुद्ध भक्तिरस कहलाता है। ग्रन्थारम्भमें मंगलाचरणमें "केवलं वा" जो कहा था उसीका अभिप्राय इससे स्पष्ट होता है। यही अनुपाधि भक्ति है। सोपाधि काम, सम्बन्ध और भयरूप उपाधियोंसे मिश्रित होने से तीन प्रकार की है, जिसे अगली कारिका में स्पष्ट किया गया है ।।६६।।

अर्थ—श्रृङ्गारमिश्रिता भक्ति कामजा भक्ति कही जाती है और सम्बन्धजा दो प्रकारसे पूर्वोक्त रसताको प्राप्त होती है—एक वत्सलभक्ति और दूसरी प्रेयोभक्ति। भयजन्य भक्ति प्रीतिभयानक रसमें रहती है ।।६७-६८।।

विवृति—भगवद्विषया रति विभावादिके योगमें यदि श्रृङ्गारसे तादात्म्यको प्राप्त होती है तो वह कामजा भक्ति कहलाती है। सम्बन्ध पाल्य-पालकभाव और सेव्य-सेवक-भाव पहले बता चुके हैं। अतः पाल्यपालकभावसे वत्सलरति और सेव्य-सेवकभावसे प्रेयोरति होती है। स्वमन्तूत्थ चित्त-वैकल्यसे उत्पन्न भगवद्रति प्रीतिभयानक भक्ति रसमें स्थायित्वेन रहती है। इन सबका वर्णन इसी उल्लास में कर चुके हैं ।।६७-६८।।

अर्थ—जब ये चारों रतियाँ एकसाथ ही व्यक्त हों तब तो प्रपाणक-रसन्यायसे एक परविलक्षण रसकी अनुभूति होती है ।।६९।।

विवृति—यद्यपि चित्तवृत्तिका यह स्वभाव है कि वह एक कालमें एक ही रतिको ग्रहण करती है फिर भी कभी-कभी प्रपाणकरसन्यायेन शुद्धहर्ष, काम, सम्बन्ध और भयजन्य रतियोंकी मिश्रित अनुभूति यदि हो जाय तो वह एक विलक्षण रसानुभव होता है। प्रपाणक-शरबतको कहते हैं। जैसे गुड़ शुण्ठी इलायची बादाम केसर आदि सबका अपना पृथक् स्वाद है किन्तु जब सबको एकमें घोटकर शर्बत बनाया जाय तो सबकी अलग प्रतीति होती हुई

एकद्व्यादिरसव्यक्तिभेदाद्रसभिदा भवेत् ।।
तस्मात् क्वचित्तदभ्यासं कुर्याद्रतिचतुष्टये ।। ७० ।।
व्रजदेवीषु च स्पष्टं दृष्टं रतिचतुष्टयम् ।।
तच्चित्तालम्बनत्वेन स्वचित्तं तादृशं भवेत् ।। ७१ ।।

भी उसमें एक विलक्षण स्वाद हो जाता है। इसी प्रकार यह परम भक्ति रस भी एक विलक्षण ही होता है ।। ६९ ।।

अर्थ—एक, दो आदि रसोंकी अभिव्यक्तिसे सहानुभूतिमें भी भेद होता है। इसलिये रति-चतुष्टयमें कहीं भी अभ्यास करे ।।७०।।

विवृति— पूर्व कारिकामें कहा था कि ये चारों रति जब एक साथ व्यक्त हों तो प्रपाणकरसन्यायसे विचित्र ही रसानुभूति होती है, इसपर शंका होती है कि जब विचित्र ही रसकी अनुभूति होगी तब रसोंका पृथक् पृथक् आस्वादन नहीं हो सकेगा ? इसीका समाधान इस कारिकामें किया है। भिन्न भिन्न रतियोंकी पृथक् पृथक् अभिव्यक्ति होनेसे पृथक् रसानुभूति हो जायगी। इसलिये चारों रतियोंमें किसीका भी अभ्यास करना चाहिये, यह तात्पर्य है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्रीतिभयानकका स्थायीभाव जो भय है वह सिंह-व्याघ्रादि लौकिक भय जैसा नहीं है अपितु भक्तजन मर्यादा संरक्षणके लिये जो भगवान्से डरते हैं— जैसे एक सेवक अपने स्वामीसे डरता है अर्थात् उसका समादर करता है, यह भय लिया जाता है। यह दास्यका परिचायक है ।। ७० ।।

अर्थ—व्रजदेवियोंमें स्पष्ट ही चारों रतियाँ देखी गई हैं। उनके चित्तका आलम्बन लेनेसे अपना चित्त भी वैसा ही हो जाता है ।।७१।।

विवृति—व्रजका "व्रजति-व्याप्नोति इति व्रजः" इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह अर्थ होता है कि मूल परब्रह्मकी नित्य लीलाभूमि होनेसे तद्रूपतया जो व्याप्त है वही व्रज है और उस व्रजमें अखण्ड चिदानन्दघन परब्रह्मके साथ जो "दीव्यन्ति=क्रीडन्ति मोदन्ते वा" खेल रही हैं वे व्रजदेवियाँ हैं। जिस प्रकार व्रज व्यापक है उसी प्रकार उन देवियोंकी संख्या भी अनन्त है। इस लिये उनमें इन चारों रतियोंके दृष्टान्त सुलभ हैं। शास्त्रकारोंने उत्तम भक्त कोटिमें गोपिकाओंको ही माना है ब्रह्मादि देवता भी गोपियोंकी पादधूलिकी वन्दना करते हैं—"वन्देऽनन्यव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः"—(भागवत)।

रसान्तरविभावादिसंकीर्णा भगवद्रतिः ॥
चित्ररूपवदन्याद्दग्रसतां प्रतिपद्यते ॥ ७२ ॥
रसान्तरविभावादिराहित्ये तु स्वरूपभाक् ॥
दशमीमेति रसतां सनकादेरिवाधिकाम् ॥ ७३ ॥
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथोर्जितः ॥
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः ॥ ७४ ॥

"एवं भक्तिः सकलभुवने नेक्षिता न श्रुता वा ।
किं शास्त्रोघैः किमिह तपसा गोपिकाभ्यो नमोऽस्तु ॥" (नारा०)

ऐसी गोपियोंके चित्तका आलम्बन किया जाय अर्थात् उन्हें आदर्श मानकर उन्होंने जिस प्रकार भगवत्सायुज्य प्राप्त किया वह प्रकार अपनानेसे अपना चित्त भी वैसा ही हो जायगा ॥ ७१ ॥

अर्थ—दूसरे रसोंके विभावादिसे संकीर्ण भगवद्विषयिणी रति भी विचित्र रूपकी तरह चित्ररसताको प्राप्त हो जाती है ॥७२॥

विवृति—अर्थात् जैसे शुक्ल पीत रक्त नील आदि रूप परस्पर मिलनेसे एक विचित्र रूप हो जाता है वैसे ही भक्तिरसके उद्दीपन विभावादि जब शृंगारादि रसोंके उद्दीपनादिसे मिश्रित होते हैं तब एक विचित्र रसकी प्रतीति होती है ॥ ७२ ॥

अर्थ—अन्य रसों और उनके विभावादिसे रहित होनेपर स्वरूपमात्रको प्रकाशित करती हुई शुद्धा रति सनकादिकी तरह दसवीं सर्वातिशायिनी रसताको प्राप्त होती है ॥७३॥

विवृति—व्रजदेवियोंमें यद्यपि शुद्धा रति है किन्तु उनमें अन्य रसोंके विभावादि भी देखे जाते हैं अतः वह मिश्रित रति हो जाती है। किन्तु सनकादि जीवन्मुक्तोंमें अन्य रसोंके विभावादिका नितान्त अभाव है अतः उनकी रति सर्वातिशायिनी होनेसे और भी विलक्षण है। उसे दसवीं रति कह सकते हैं जिसकी प्रक्रियासे केवल स्वरूपमात्रका आनन्द प्राप्त होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि अन्य रसोंके विभावादि कहनेमें केवल उद्दीपन विभाव ही अन्य लिये जायँगे। आलम्बन विभाव तो भगवान् ही रहेंगे तभी भक्तिरससे उस अन्य रसका मिश्रण भी हो सकेगा ॥७३॥

अर्थ—"देवादिविषया रति तथा व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित व्यभिचारी

देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दप्रकाशनात् ॥
तद्योज्यं परमानन्दरूपे न परमात्मनि ॥ ७५ ॥
कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम् ॥
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात् ॥ ७६ ॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ॥
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥ ७७ ॥

(निर्वेदादि) भाव कहे जाते हैं—रस नहीं" ऐसा जो रसज्ञों ने कहा है वह कथन जीवरूप होनेसे और पूर्ण आनन्दके प्रकाशक न होनेसे अन्य देवताओं के विषयमें है, उसे परमानन्दरूप परमात्मा कृष्णमें नहीं लगाना चाहिये ।७४-७५।

विवृति–रस शास्त्रके आचार्य भरत आदिने देवादिविषया रति और निर्वेदादि संचारियों को भाव माना है, रस नहीं । इसीलिये यहाँ शंका हुई कि भक्ति रस कैसे होगा ? क्यों कि वह भी तो कृष्णविषया रति ही है ? इसीका उत्तर शंका सहित इन कारिकाओंमें दिया गया है कि अन्य देवताओं विषयक रति, भाव कही जा सकती है क्यों कि वे मलिनसत्त्वप्रधान जीव अविद्याके कार्य रूप होनेसे पूर्ण आनन्दके प्रकाशक नहीं हैं किंतु भगवान् कृष्ण तो परमानन्द स्वरूप परमात्मा हैं, उनके विषयमें यह सिद्धान्त लागू नहीं होता । जैसा कि भागवतमें कहा है "अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" । और भी प्रथम स्कन्धमें—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ आदि

सामान्य देवरतिकी अपेक्षा भगवद्विषयिणी रति विलक्षण होती है अतः उसे भाव न कहकर रस ही कहना चाहिये, यह तात्पर्य है । इस विषयको श्री रूपगोस्वामीजीने हरिभक्तिरसामृत सिंधु और उज्जवलनीलमणिमें विस्तारसे सिद्ध किया है ।।७४-७५।।

अर्थ—अथवा कान्तादिविषया रति आदिमें पूर्ण सुखका लेशमात्र भी स्पर्श नहीं होता इसलिये उससे रसकी पुष्टि नहीं होती परिपूर्ण रसवाली भगवद्विषया रति कान्तादि विषयक रतिवाले क्षुद्ररसोंसे ऐसे ही बलवान् है जैसे कि सूर्यकी प्रभा जुगनुओंकी प्रभासे अत्यन्त तीव्र होती है ।।७६-७७।।

विवृति—तात्पर्य यह है कि कान्तादि विषयक रत्यादि क्षणिक आनन्द

क्रोधशोकभयादीनां साक्षात्सुखविरोधिनाम् ।।
रसत्वमभ्युपगतं तथाऽनुभवमात्रतः ।। ७८ ।।
इहानुभवसिद्धेऽपि सहस्रगुणितो रसः ।।
जडेनेव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते ।। ७९ ।।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य्यवर्य्य-विश्वविश्रुतसर्वतन्त्रस्वतन्त्रताक-
श्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचिते श्रीभगवद्भक्तिरसायने
भक्तिविशेषनिरूपणं नाम द्वितीयोल्लासः

देनेवाले हैं इसलिये उनकी प्रतीति ऐसी है जैसी जुगनूकी टिमटिमाहट और भगवद्विषयक रति पूर्णानन्दको देनेवाली तथा चिरस्थायिनी है उसका प्रकाश सूर्यकी भाँति प्रखर है अतः वही रस कहा जा सकता है ।।७६-७७।।

अर्थ—क्रोध, शोक, भय आदि जो कि साक्षात्सुखके विरोधी हैं उनको तो थोड़ेसे अनुभवसे रस मान लिया है और यहाँ जो भक्तिरस उनकी अपेक्षा हजारों गुना आनन्द देनेवाला अनुभवसे सिद्ध है उसको रस न माननेवाले मूर्ख क्यों झूठा अपलाप करते हैं ।।७८-७९।।

विवृति—श्रुति कहती है—"सर्व आनन्दा अस्य मात्रामुपजीवन्ति" अर्थात् सारे आनन्द इस ब्रह्मानन्दके अंश स्वरूपमें हैं। रसशास्त्रकारोंने भी रसानन्दको ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कान्तादि विषयक रतिजनित आनन्द तो सर्वसुलभ हो सकता है किंतु ब्रह्मानन्दका अनुभव तो विरले ही योगिजनोंको होगा। केवल आनन्दांशत्वेन यह सुलभ आनन्द उसका सहोदर है अर्थात् इस रसानन्दकी प्रतीतिसे लोग ब्रह्मानन्दके प्रति आकृष्ट होंगे। जब क्षुद्र और क्षणिक रसोंमें यह आनन्द होता है तो पूर्ण और नित्य ब्रह्मानन्दमें क्या स्थिति होगी यह सोचेंगे ।।७८-७९।।

परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य—विश्वविश्रुत—सर्वतंत्रस्वतंत्रताक-
श्रीमधुसूदनयतिवर-विरचित भगवद्भक्तिरसायनमें
भक्तिविशेषनिरूपण नामक द्वितीय उल्लासकी
श्री जनार्दनशास्त्री पाण्डेय विरचिता
हिंदी विवृति समाप्त

तृतीय उल्लासः

ननु कोऽयं रसो नाम किंनिष्ठो वा भवेदसौ ।।
अस्य प्रत्यायकः को वा प्रतीतिरपि कीदृशी ।। १ ।।
विभावैरनुभावैश्च व्यभिचारिभिरप्युत ।।
स्थायीभावः सुखत्वेन व्यज्यमानो रसः स्मृतः ।। २ ।।

अर्थ—यह रसतत्त्व कौन सा है ? जिसमें उस (रस) की प्रतीति होती है वह रसाधार कौन है ? इस (रस) का प्रत्यायक (बोधक) क्या है ? और रसकी प्रतीति कैसीं होती है ? ।।१।।

विवृति—भक्तिरसका प्रतिपादन करते हुए प्रथमोल्लासमें भक्तिका सामान्य निरूपण और दूसरे उल्लासमें भक्तिका विशेष निरूपण करने के बाद अब रसपदार्थका निरूपण करनेके लिये शिष्यजिज्ञासा रूपमें यह उपक्रम है । रस क्या है ? कहाँ रहता है ? उसकी प्रतीति करानेवाले कौन हैं ? और वह प्रतीति कैसी होती है ? इन चार प्रश्नोंके उत्तरमें रसका विवेचन इस उल्लासमें किया जायगा ।।१।।

अर्थ—विभावों अनुभावों और व्याभिचारी भावोंसे भी परिपुष्ट होकर सुखरूपसे व्यक्त होनेवाला स्थायीभाव ही रस कहलाता है ।।२।।

विवृति—रस क्या है ? इस प्रश्नका यह उत्तर है । विभाव, अनुभाव और व्याभिचारीभाव का लक्षण आदि, प्रारम्भ में मंगलाचरण की विवृतिमें दिया गया है । संक्षेपमें रति-हास आदि स्थायीभावोंको विभावित (उत्पन्न) करनेवाला विभाव होता है । यह दो प्रकारका है-आलम्बन और उद्दीपन । सामान्यरसोंमें कान्तादि आलम्बन भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु भक्तिरस में किसी भी स्थायीभावमें आलम्बन भगवान् ही रहते हैं यह वैशिष्ट्य है । उद्दीपन विभावकी दूसरे स्थायी भावोंसे संकीर्णता हो सकती है और वह मिश्रित भक्तिरस कहलाता है इसे बता चुके हैं ।

आलम्बन और उद्दीपन विभावोंके अनु = पश्चात् जो कार्य = रोमांचादि होते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं ।

सुखस्यात्मस्वरूपत्वात्तदाधारो न विद्यते ॥
तद्व्यञ्जिकाया वृत्तेस्तु सामाजिकमनः प्रति ॥ ३ ॥

इन विभाव और अनुभावोंसे होनेवाले सुखके आस्वादनमें जो विभिन्न निमित्त बनकर क्षणिक भाव आते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि रत्यादि स्थायीभावोंको अभिव्यक्त करनेवाले विभाव हैं, उन्हें सुखमय बनानेवाले अनुभाव और सुखास्वाद करानेमें अत्यन्त उपकारी साधन व्याभिचारी भाव हैं।

इन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावोंसे परिपुष्ट होकर अभिव्यक्त होनेवाला रस पदार्थ है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अभिव्यक्त होना दो प्रकारसे होता है एक तो जैसे दीपक प्रकाश द्वारा घटादि पदार्थोंको अभिव्यक्त = प्रकाशित कर देता है। यहाँ घट पदार्थ भिन्न है, दीपक भिन्न। दूसरा—दूध विशेष कारणोंके सहयोगसे दही रूपमें अभिव्यक्त होता है। यहां उसकी अभिव्यक्तिके साधन भले ही भिन्न हों किंतु दूध से भिन्न दही नहीं है। इसी प्रकार रसमें भी स्थायीभाव ही विभावादिसे पुष्ट होता हुआ रसरूपमें अभिव्यक्त होता है। दीपककी तरह विभावादि उसे प्रकट नहीं करते।

रसशास्त्रकारोंने अनुभावोंको कार्य रूप होनेसे असंख्य होनेके कारण केवल अनुभावरूप ही माना है। व्यभिचारी भाव—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, मूर्च्छा, सुप्ति, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क ये ३३ माने हैं। इनके लक्षण और उदाहरण ग्रन्थविस्तारभयसे यहाँ नहीं दिये जाते, जिज्ञासु साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थोंमें देखें ॥२॥

अर्थ—सुख आत्मस्वरूप है इसलिये उसका कोई आधार नहीं होता। किंतु सुख को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति का आधार सामाजिकों का मन है ॥३॥

विवृति—प्रथमकारिकामें दूसरा प्रश्न किया था रसका आधार क्या है? इसीका यह उत्तर है। तैतिरीयश्रुतिमें कहा है—"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" "एष ह्येवानन्दयति" अर्थात् रस ही वह

काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्या स्थायिनः सन्ति लौकिकाः ॥
तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरं तत्समा अप्यलौकिकाः ॥ ४ ॥
बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखादिहेतवः ॥
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः ॥ ५ ॥

आत्मा है, रसको ही प्राप्त करके यह आनन्दित होता है, यही निश्चय करके आनन्दित करनेवाला है। इस प्रकार जब रस ही सबका आत्मा है तो आत्माका तो कोई आधार नहीं होता श्रुतियोंने "नेति नेति" कह कर इसे स्पष्ट किया है। फिर प्रश्न होता है—तो फिर इतना बड़ा आडम्बर रसका क्यों रचा जाय ? इसका उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्षमें जो सुखकी अनुभूति होती है उसकी अभिव्यञ्जक तो पुरुषकी सात्त्विक अभिलाषारूप वृत्तियाँ हैं और इन वृत्तियोंका आधार सामाजिक सहृदयोंका मन होता है। सामाजिकका अर्थ है लौकिक या अलौकिक रसाभिव्यञ्जक वृत्तियोंका श्रव्य या दृश्य काव्य अथवा भगवद्गुणानुश्रवणकीर्तनादि द्वारा आस्वादन लेनेवाला व्यक्ति ॥३॥

अर्थ—काव्यके अर्थमें रहनेवाले रत्यादि स्थायीभाव लौकिक हैं और रसानुभविता सामाजिकोंमें रहनेवाले वे ही स्थायीभाव समान विषयक होनेपर भी अलौकिक होते हैं ॥४॥

विवृति—तात्पर्य यह है कि काव्यमें जो वर्णनीय या अभिनेय अर्थ होता है लौकिक रत्यादि स्थायी भाव उसीपर निर्भर रहते हैं। क्यों कि लोकसिद्ध नियमानुसार यदि वह अर्थ सामग्री सुखमय होती हैं तो उससे सुखका अनुभव होता है और सामग्री दुःखमय होती है तो दुःख का। अलौकिक रसानुभूति कार्य पर निर्भर नहीं करती, वह सामाजिक पर निर्भर करती है। यद्यपि अलौकिक रसोंका परिज्ञान भी हर्षशोकादिपर ही अवलम्बित है इसलिये दोनों-का विषय समान है, फिरभी बोद्धृनिष्ठ होनेसे ये अलौकिक कहे जाते हैं। इस विषमताका हेतु क्या है ? यह अगली कारिकामें स्पष्ट किया गया है ॥४॥

अर्थ—बोध्य (लौकिक काव्य या अलौकिक वेदादि) में रहनेवाले रत्यादि सुख दुःख आदि उत्पन्न करनेवाले होते हैं किंतु बोद्धृ (सामाजिक) में रहने-पर वे केवल सुखजनक ही होते हैं ॥५॥

विवृति—इस कारिकासे लौकिक और अलौकिक रसोंका कार्य भेद दिखाया है। इसमें 'मात्र' और 'एक' दोनों समानार्थक शब्द स्पष्टार्थ के लिये हैं ॥५॥

अतो न करुणादीनां रसत्वं प्रतिहन्यते ।।
भावानां बोद्धृनिष्ठानां दुःखाहेतुत्वनिश्चयात् ।। ६ ।।
तत्र लौकिकरत्यादेः कारणं लौकिकं तु यत् ।।
काव्योपदर्शितं तत्तु विभाव इति कथ्यते ।। ७ ।।
लौकिकस्यैव रत्यादेर्लोके यत् कार्यमीक्षितम् ।।
काव्योपदर्शितं तत्स्यादनुभावपदास्पदम् ।। ८ ।।
लौकिकस्यैव रत्यादेर्ये भावाः सहकारिणः ।।
काव्योपदर्शितास्ते तु कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।। ६ ।।
अलौकिकस्य रत्यादेः सामाजिकनिवासिनः ।।
उद्बोधे कारणं ज्ञेयं त्रयमेतत्समुच्चितम् ।। १० ।।

अर्थ—बोद्धृनिष्ठ भाव निश्चय ही दुःखके अनुत्पादक (अर्थात् सुखजनक) होते हैं इसलिये करुण आदिकी रसताका प्रतिघात नहीं होता ।

विवृति—चूँकि सामाजिकके मनमें रहनेवाले स्थायीभाव का आलम्बन परमात्मा ही होता है और वह कभी दुःखमय नहीं है अतः तद्विषयक शोक-भयादि होनेपर भी सामाजिकके मनमें रतिकी न्यूनता नहीं होती । अतः शोकादि स्थायीभावोंके करुण आदि रसोंकी नित्यता स्पष्ट है । कहनेका तात्पर्य यह है कि बोद्धृनिष्ठ भावोंके नितान्त सुखमय होनेसे करुण आदि रस नहीं हो सकते ऐसा नहीं कहा जा सकता ।।६।।

अर्थ—लौकिक रति आदिके जो लौकिक कारण काव्यादिमें कहे गये हैं वे ही लौकिक विभाव कहे जाते हैं, लौकिक रत्यादिके लोकमें जो कार्य काव्यों में दिखाये गये हैं वे अनुभाव पदसे कहे जाते हैं और लौकिक रत्यादि के जो सहकारी भाव काव्यों में दिखाये गये हैं वे व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं ।

विवृति—यद्यपि विभावादिके लक्षण पहिले कह चुके थे फिर भी रसों के लौकिक अलौकिक दो भेद कहते हुए ग्रन्थकार ने पुनः उनके लक्षण स्पष्ट कर दिये हैं । यहाँ यह स्मरणीय है कि कहीं कहीं विभावादि स्पष्ट नहीं होते, जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ उनका अध्याहार कर लिया जाता है अर्थात् प्रसंग या अनुमानसे उनकी प्रतीति कर ली जाती है ।।७-६।।

अर्थ—सामाजिकनिष्ठ होनेसे अलौकिक रत्यादि स्थायीभावके उद्बोधन

ज्ञातस्वपरसंबन्धादन्ये साधारणात्मना ॥
अलौकिकं बोधयन्ति भावं भावास्त्रयोऽप्यमी ॥ ११ ॥
भावत्रितयसंसृष्टस्थायिभावावगाहिनी ॥
समूहालम्बनात्मैका जायते सात्त्विकी मतिः ॥ १२ ॥
साऽनन्तरक्षणेऽवश्यं व्यनक्ति सुखमुत्तमम् ॥
तद् रसः केचिदाचार्य्यास्तामेव तु रसं विदुः ॥ १३ ॥

में ये तीनों (विभावानुभावव्यभिचारीभाव) मिलित रूपसे कारण समझने चाहिये ॥१०।

विवृति—यद्यपि लोकमें रत्यादि के प्रति वस्तुएं कार्यकारण सहकारितासे उद्बोधक होती हैं किंतु काव्य में प्रपाणकरसन्यायसे मिलित होकर ही आस्वादके प्रति कारण होती हैं, यह पहिले भी कह चुके हैं ॥१०॥

अर्थ—ये तीनों (विभावादि) स्वसम्बन्ध और परसम्बन्धका ज्ञान हो जानेसे विलक्षण होनेपर भी साधारण की तरह ही अलौकिक भावको व्यक्त करते हैं ।।११।।

विवृति—स्वपरसम्बन्धका तात्पर्य है जैसे दुष्यन्त और शकुन्तलाका परस्पर दुष्यन्तत्व और शकुन्तलात्वरूप विशेष धर्माच्छदित निरूपितत्व और आश्रयत्व सम्बन्ध, साधारणात्मनाका अर्थ है सामान्यतः एक पुरुषकी स्त्रीविषयक रतिकी तरह । रौद्र या भयानक रसों के अभिनयमें भयंकरता होती हुई भी सामाजिक के मनमें रसजन्य प्रसाद ही होता है ॥ ११ ॥

अर्थ—तीनों (विभावनुभाव-व्यभिचारीभाव) भावोंके सहित स्थायी भावको ग्रहण करनेवाली सत्त्वगुणमयी एक मनोवृत्ति उत्पन्न होती है ।।१२।।

विवृति—तात्पर्य यह है कि विभावादि तीनोंके मिलने पर स्थायी भावको प्रकट करनेवाली सत्त्वगुणमयी एक मनोवृत्ति उत्पन्न होती है जो समूहालम्बनात्मकज्ञान स्वरूप है । समूहालम्बन ज्ञान द्वितीय उल्लासमें बता चुके हैं यहाँ उसका अर्थ यह है कि जैसे प्रपाणक (शरबत)में पड़ी हुई प्रत्येक वस्तुका अलग अलग स्वाद होता हुआ भी एक विलक्षण स्वाद भिन्न ही प्रतीत होता है इसी प्रकार विभावादिका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता हुआ भी सम्मिलितरूपसे एक विलक्षण ही प्रतीति होने लगती है जिसमें सत्त्व ही अधिक मात्रामें उद्रिक्त होता है ॥ १२ ॥

अर्थ—तीनों भावोंकी समूहालम्बनात्मक बुद्धि तत्काल ही एक उत्तम

तेषां प्रत्येकविज्ञानं कारणत्वेन तैर्मतम् ॥
स्थायिभावो रस इति प्रयोगस्तूपचारतः ॥ १४ ॥
एवमव्यवधानेन क्रमो यस्मान्न लक्ष्यते ॥
असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिं तस्मादिमं विदुः ॥ १५ ॥

सुखको व्यक्त करती है और वही रस है। कोई आचार्य तो उस समूहालम्बनात्मक मनोवृत्तिको ही रस कहते हैं ॥१३॥

विवृति--'रस'के विषयमें आचार्योंके विभिन्न मत हैं जिनका संक्षेपतः प्रतिपादन करनेपर यहाँ ग्रन्थ बहुत बढ़ जायगा।

तात्पर्य यह है कि किसीने अनुकार्यमें रस माना है, किसीने अनुकारकमें, और किसीने आत्मामें (जीवात्मामें) आदि, इन सबके प्रति प्रकृत ग्रन्थकारकी अनास्था 'केचिद्' इस पदसे सूचित होती है। क्योंकि इनके मतमें 'रसो वै सः' इस तैत्तिरीय श्रुतिके अनुसार आत्मा ही रस है, इसका प्रतिपादन दूसरे उल्लासमें कर चुके हैं। पूर्वाचार्योंके मतोंमें आत्मस्वरूप रसकी नित्यता सिद्ध नहीं होती इसलिये विभावानुभाव-व्यभिचारीभावके समूहालम्बनात्मक ज्ञानके अनन्तर अव्यवहित प्रतीतिका विषय जो आनन्द है वही रस है, यह प्रकृत ग्रन्थकारका अभीष्ट मत है ॥ १३ ॥

अर्थ--उन्होंने स्थायीभावोंका एकत्रित ज्ञान ही कारण माना है। स्थायीभाव ही रस है यह उक्ति तो गौण है ॥१४॥

विवृति--'तैः' पदसे जो विभावादि तीनोंके मिलनेसे स्थायीभावको प्रकट करनेवाली बुद्धिको रस मानते हैं या जो उस बुद्धिसे अव्यवहित उत्तर कालमें प्रतीत होनेवाले सुखको रस मानते हैं उन दोनोंका ग्रहण है। "स्थायीभावो रसः स्मृतः" यह जो कहा था वह तो लाक्षणिक है। जैसे किसीका घर गंगाके बिलकुल समीप हो तो कहते हैं 'उनका घर तो एकदम गंगाजीपर है' इसका तात्पर्य है कि गंगाजीके अव्यवहित समीपमें है। इसी प्रकार स्थायीभाव रस नहीं है प्रत्युत स्थायीभावसे अव्यवहित रसकी प्रतीति होती है ॥ १४ ॥

अर्थ--इस प्रकार पूर्वोक्त मतोंके अनुसार रसकी अभिव्यक्तिमें कोई व्यवधान न होनेसे उनका क्रम (पूर्वापरभाव) नहीं दीखता इसलिये उसे असंलक्ष्यक्रम व्यंजक ध्वनि कहते हैं ॥१॥

विवृति—जैसे एक सूई एक साथ सैकड़ों कोमल पत्तोंको छेद देती है।

व्यवधानात्क्रमो लक्ष्यो वस्त्वलङ्कारयोर्ध्वनौ ॥
लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमं तस्माद् ध्वनिमेतं प्रचक्षते ॥ १६ ॥
रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ॥
अनन्तरक्षणे यस्माद् व्यज्यतेऽवश्यमेव सः ॥ १७ ॥

यद्यपि वे पत्ते एकके ऊपर एक करके रखे रहते हैं और ऊपरका पत्ता पहिले छिदनेपर ही नीचेका पत्ता छिदता होगा, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वह पूर्वापरभावका व्यवधान हमें दिखाई नहीं पड़ता। उसी प्रकार विभावादिके समूहात्मक ज्ञानसे जब इसकी प्रतीति होती है तब विभावादियोंका व्यवधान भी हमें दिखाई नहीं पड़ता। इसको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं ।१५।

अर्थ—चूंकि वस्तु और अलंकारका ध्वनिमें व्यवधान स्पष्ट होनेसे क्रम दीख पड़ता है। इसलिये इसे संलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रम ध्वनि कहते हैं ।।१६।।

विवृति—'ध्वन्यतेऽर्थो अनेन" इस विग्रहके अनुसार अर्थको ध्वनित करनेवाला व्यंजना व्यापार ही ध्वनि है। वह प्रथम दो प्रकारका होता है। १—अभिधामूलक २—लक्षणामूलक। फिर प्रत्येक दो प्रकारका होता है १—अविवक्षितवाच्य २—विवक्षितान्यपरवाच्य। ये दोनों अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्तिसे प्रयुक्त होनेसे चार प्रकारके हैं। तन्मूलक ध्वनिके भी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य रूपसे दो दो प्रकार होते हैं। इस प्रकार अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिमें व्यङ्ग्यकी प्रतीतिका क्रम यदि वस्तु अलंकारका व्यवधान होनेसे दृश्य होता है तो वह संलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहलाता है और व्यंग्यका क्रम न दीख पड़ता हो तो असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहलाता है। यही ध्वनि—काव्यका संक्षेप है ।। १६ ।।

अर्थ—रस, भाव, दोनोंके आभास, भावशान्ति आदि भी विभावादिका क्रम लक्षित न होनेसे और समुच्चयानन्तर प्रतीयमान होनेसे अवश्य ही रस रूपसे व्यक्त होते हैं ।।१७।।

विवृति—रसका निरूपण पूर्व हो चुका है। देवादिविषया रति भाव कहलाती है। (यहाँ यह स्मरणीय है कि अन्य देवता-विषयक रति ही भाव है श्रीकृष्णविषया रति तो रस ही है, यह प्रतिपादन कर चुके हैं)। इन दोनों (रस और भाव) का अनुचित प्रयोग तदाभास है अर्थात् रसका अनौचित्येन प्रदर्शन रसाभास और भावका अनौचित्येन प्रदर्शन भावाभास कहलाता है।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा ये रसप्रतिबन्धकाः ॥
तदभावोऽपि सामग्र्यां निविष्टोऽनिष्टहानिकृत् ॥ १८ ॥
या रीतयो ये च गुणास्तज्ज्ञानमपि कारणम् ॥
अलङ्काराश्च विज्ञाता भवन्ति परिपोषकाः ॥ १९ ॥

निर्वेदादि किसी भावकी शान्ति हो जाना भावशान्ति कहलाती है। आदि पदसे भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता लिये गये हैं इनका नामके अनुसार ही अर्थ होता है अर्थात् भावोंका उदय होनेपर भावोदय, दो भावों-का मिश्रण होनेपर भावसन्धि और कई भावोंके प्रदर्शित होनेपर भावशवलता होती है। इनके उदाहरण रस-प्रतिपादक सभी ग्रन्थोंमें दिये गये हैं विस्तार भयसे यहाँ नहीं दिये जाते। यहाँ तो केवल यही तात्पर्य है कि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता ये आठों काव्यार्थके साक्षात् अभिव्यंजक होनेसे रस रूप ही हैं ॥ १७ ॥

अर्थ—श्रुतिकटु आदि दोष भी जो रसके प्रतिबन्धक कहे गये हैं, उनका रसोद्बोधक सामग्रीमें प्रवेश न करना भी अनिष्ट निवारक है ॥ १८ ॥

विवृति—उपर्युक्त ध्वनि प्रकरणसे प्रतीत होता है कि कीर्तनादिके निमित्त भगवद्गुणवर्णनादि रूप काव्यका वर्णन किया गया है। इसलिये जैसे श्रुतिकटु आदि दोष लौकिक काव्यमें रसप्रतीतिमें बाधक होते हैं वैसे ही भागवत काव्यमें भी रसप्रतीतिमें बाधक होते हैं। अतः भक्ति-रसोद्बोधक सामग्रीमें इनका सन्निवेश न करना ही अच्छा है ॥ १८ ॥

अर्थ—जो रीतियाँ और जो गुण हैं उनका ज्ञान भी रसदृष्टिमें कारण होता है। यथाशक्ति जाने हुए अलंकार भी रसके परिपोषक होते हैं ॥

विवृति—"पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत्" इस लक्षणके अनुसार जैसे प्राणीके देहका संगठन होता है ऐसे ही काव्यमें शब्दोंका या अर्थोंका जो संगठन होता है उसे रीति कहते हैं। वामनाचार्यने इस रीतिको ही काव्यका आत्मा माना है। रसशास्त्रकारोंने इसे चार प्रकार की माना है—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी। इसको कुछ लोग रीति न कहकर वृत्ति कहते हैं।

गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। कुछ आचार्योंने १० गुण माने हैं किन्तु प्रायः उनका इन तीनोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे शौर्यादि आत्माके धर्म हैं ऐसे ही काव्यमें माधुर्यादि इसके धर्म माने जाते हैं। इसी

गुणालङ्कारीतीनां भावानां च निवेदकः ॥
तस्य प्रत्यायकः शब्दो वृत्त्या व्यञ्जनरूपया ॥ २० ॥
वृत्तिः कार्याऽपरोक्षाऽस्य शब्दस्य सुखगर्भिणी ॥
दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्योत्थमतिवृत्तिवत् ॥ २१ ॥
नित्यं सुखमभिव्यक्तं रसो वै स इति श्रुतेः ।
प्रतीतिः स्वप्रकाशस्य निर्विकल्पसुखात्मिका ॥ २२ ॥

प्रकार उपमादि अलंकार भी यथाशक्ति काव्यके परिपोषक हैं।

तात्पर्य यह है कि लौकिक काव्योंकी ही भाँति भक्तिरसपरक काव्योंमें भी रीति, गुण, अलंकारोंका सन्निवेश होनेसे और श्रुतिकटु आदि दोषों के न होनेसे भक्तिरसकी स्फुटतर चमत्कारिणी प्रतीति होती है ॥१९॥

अर्थ—गुण अलंकार रीति और भावोंका पूर्ण रूपसे बोध कराकर उसकी अभिव्यक्ति करनेवाला शब्द ही व्यञ्जना रूप वृत्तिसे रसकी प्रतीति कराता है।

विवृति—प्रारम्भमें रसविषयक तीसरा प्रश्न किया था—अस्य प्रत्यायकः को वा ? अर्थात् इस रसकी प्रतीति कराने वाला कौन है ? इसीका उत्तर इस कारिकासे दिया गया है कि गुण रीति अलंकार एवं भावोंका बोधक शब्द रूप काव्य ही रसका प्रत्यायक है। इस शब्दात्मक काव्यसे ही रस-चमत्कारकी प्रतीति होती है और व्यञ्जना इसमें असाधारण कारण है ॥२०॥

अर्थ—इस शब्दात्मक काव्यकी सुखविषयणी वृत्ति ऐसे ही प्रत्यक्ष करनी चाहिये जैसे 'तुम ही दशवें हो' इत्यादि वाक्यसे जन्य बुद्धिकी वृत्तिका प्रत्यक्ष होता है ॥२१॥

विवृति—जैसे कोई १० मूढव्यक्ति घरसे गंगास्नानके लिये गये। गंगा स्नानकर एक जगह एकत्रित हुए १० संख्याकी पूर्तिके लिये जब गिनने लगे तो गिननेवाला दूसरे जनोंको गिनता था स्वयंको नहीं और इस भ्रमसे वे रोते थे कि हमारा एक साथी गंगाजीमें डूब गया। जब किसी तटस्थ चतुर व्यक्तिने उस गिननेवालेको बताया कि दशवें तुम तो हो, तब सहसा उसकी समझमें आया। इसलिये जैसे उपदेशक चतुरव्यक्तिके उपदेशसे दशवाँ तू है यह सुनकर गिनने वाले को अपने आप में दशम का प्रत्यक्ष होता है ऐसे ही भगवद्विषयक काव्यसे भी रसात्मक ब्रह्मका प्रत्यक्ष भान होता है ॥२१॥

कार्यज्ञाप्यादिवैधर्म्यं यत् तु कैश्चिन्निरूपितम् ।।
तदप्येतेन मार्गेण योज्यं शास्त्राविरोधतः ।। २३ ।।

अर्थ—'रसो वै सः' इस श्रुतिके अनुसार सुखरूपसे जो नित्य अभिव्यक्त होता है, वही उस स्वयंप्रकाश रसकी निर्विकल्प सुखात्मिका प्रतीति होती है ।।

विवृति—चौथा प्रश्न था—उस रसकी प्रतीति कैसी होती है ? उसीका यह उत्तर है । सुख दो प्रकारका होता है । एक तो सामान्य सुख है जो सत्त्वगुणका परिणाम रूप जड़तत्त्व है और दुःखानुविद्ध होता है । वह उत्पन्न होता है और विनष्ट भी हो जाता है । इसका सामान्यतः सभीको अनुभव होता है । दूसरा विशेष सुख है । जो नित्य चिदानन्दमय वास्तविक सुख कहलाता है । इसका अनुभव विवेकियोंको ही होता है । यह यद्यपि नित्य है परन्तु अभिधासे आवृत होनेके कारण आवरण भङ्ग होनेपर ही वह व्यक्त होता है । आवरणभंगसे तात्पर्य यहाँ विभावादित्रयके समुच्चयसे रत्याद्युद्बोधक प्रतीतिसे है । इसीको 'रसो वै सः' इस श्रुतिसे व्यक्त किया गया है । उसी स्वयं प्रकाश रसकी निर्विकल्पक अर्थात् जिसमें किसी प्रकारका विकल्प है ही नहीं, ऐसी प्रतीति होती है ।।२२।।

अर्थ—जो कि किन्हीं (तार्किकों) ने रसका कार्य और ज्ञाप्यसे वैलक्षण्यका निरूपण किया था रस शास्त्रका विरोध न होनेसे उसकी भी इसी रीतिसे संगति बैठानी चाहिये ।।२३।।

विवृति—विभावादि ज्ञान होनेपर रसकी उत्पत्ति होती है और विभावादि ज्ञानके अभावमें रसका भी अभाव होता है । अतः अन्वय-व्यतिरेक द्वारा विभावादि ज्ञानकी कारणता और रसकी कार्यता सिद्ध है, ऐसा नहीं कह सकते । कारण तीन होते हैं । समवायि, असमवायि और निमित्त । विभावादि ज्ञान रसका समवायि कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह द्रव्य नहीं है, द्रव्यसे भिन्न समवायि कारण नहीं होता । ज्ञान आत्माका गुण विशेष है इसलिये असमवायि कारण भी नहीं है । निमित्त कारण भी नहीं कह सकते क्योंकि विभावादि ज्ञान नष्ट होनेपर रस नहीं रहता किन्तु लोकमें निमित्त कारणका नाश होनेपर कार्यका नाश नहीं देखा जाता । इसलिये कार्यसे रसका वैधर्म्य (विलक्षणता) है । इसी प्रकार लौकिक ज्ञान घटादि, ज्ञापक दीपकादिसे विषम सत्ता वाला होता है । किन्तु ये दोनों समसत्ताक हैं अतः

परमानन्द आत्मैव रस इत्याहुरागमाः ॥
शब्दतस्तदभिव्यक्तिप्रकारोऽयं प्रदर्शितः ॥ २४ ॥
अर्थवादाधिकरणे वनशैलादिवर्णनम् ॥
श्रोतृणां सुखमात्रार्थमिति भट्टैरुदाहृतम् ॥ २५ ॥
कार्यान्वितत्ववादेऽपि न विरोधोऽस्ति कश्चन ॥
यस्मात् कृतीप्सितत्वेन कार्यं सुखमपीष्यते ॥ २६ ॥

रस ज्ञाप्य भी नहीं ऐसा जो तार्किकों का आक्षेप था वह भी रसको आत्मारूप माननेसे दूर हो जायगा।

यदि कहें कि कार्य ज्ञाप्य विलक्षण होनेपर शास्त्र-विरोध होगा अर्थात् 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस शास्त्रसे विरोध होगा ? क्यों कि संयोगात् इस पंचमीका अर्थ नहीं लगेगा ? यह नहीं कह सकते, विशेष्यांशको लेकर भले ही कार्यज्ञाप्यविलक्षणता हो विशेषणांशको लेकर नहीं होती। इसलिये सूत्रसे भी कोई विरोध नहीं। यह तात्पर्य है ॥२३॥

अर्थ—रस प्रतिपादक आगमों ने 'परम आनन्दस्वरूप आत्मा ही रस है' ऐसा कहा है और शब्दसे उस रसकी अभिव्यक्तिका प्रकार यहाँ दिखाया गया है।

विवृति—"रसो वै सः रसं ह्येवाऽयंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" आदि रस-प्रतिपादक आगम हैं। यद्यपि महर्षि भरतका सूत्र लौकिक रस प्रतिपादनके लिये कहा गया है किन्तु उसी रीतिसे परमात्माकी रसताका प्रतिपादक होनेमें भी उसे कोई रोक नहीं सकता, यह तात्पर्य है ॥२४॥

अर्थ—अर्थवादाधिकरणमें वनशैलादिका वर्णन केवल श्रोताओंके सुखके लिये है। ऐसा कुमारिल भट्टने भी कहा है ॥२५॥

विवृति—पूर्वोक्त प्रकारसे शब्दसे सुखाभिव्यक्ति केवल हमने ही नहीं कही है प्रत्युत कुमारिल भट्टने भी इसे स्वीकार किया है यह कहकर अपनी उक्तिको पुष्ट करनेके लिये यह कारिका कही है। कुमारिल भट्ट प्रसिद्ध मीमांसक थे और उनकी यह उक्ति शाबरभाष्यके व्याख्यान रूप तन्त्रवार्तिकमें व्यक्त है ॥२५॥

अर्थ—कार्यान्वयवादमें भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि सबका प्रयत्न साध्य होनेसे सुख भी कार्य हो सकता है ॥२६॥

विवृति—मीमांसकोंके दो मत हैं पहले भट्ट मतसे अपने मतकी पुष्टि की

अलौकिकनियोगे तु न किंचिन्मानमीक्ष्यते ।।
लोके वाचां च सर्वेषां तत्परत्वं न युज्यते ।। २७ ।।
प्रयोजनवदज्ञातज्ञापकत्वं च मानता ।।
शब्दस्य कार्यपरता त्वाचार्यैरेव खण्डिता ।। २८ ।।

थी अब गुरु (प्रभाकर) मतकी अनुकूलता दिखाई है। तात्पर्य यह है कि कार्यान्वयवादी प्रभाकर विधिवाक्यसे कर्तव्यतया बोधित अर्थका ही शाब्दबोध मानता है। यहाँ इतिकर्तव्यता बतानेवाला वेद वाक्य न होनेसे शाब्दबोध कैसे होगा ? यह शंका हुई। इसका समाधान यह है कि रस सबका प्रयत्न साध्य और अभीष्ट है इसलिये जितने भी उपासना परक विधि वाक्य हैं उन सबमें उपास्य रूपसे रसकी ही इतिकर्तव्यता बताई गई है। अतः इस मतसे भी कोई विरोध नहीं ।।२६।।

अर्थ—रसविषयक अलौकिक नियोगमें यद्यपि कोई प्रमाण नहीं किन्तु लोकमें सभी व्यवहार करने वालोंके वाक्य नियोगपरक नहीं होते ।।२७।।

विवृति—प्राभाकरोंका मत है 'स्वर्गकामो यजेत' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि जिन वाक्योंमें लिङाद्यर्थभूत अपूर्व उत्पन्न होता है वही नियोग अलौकिक कहा जा सकता है। रसके विषयमें तो ऐसा नियोग वाक्य कहीं वेदमें नहीं मिलता। फिर इसे अलौकिक माननेमें क्या प्रमाण है ? इसीके उत्तरमें उपर्युक्त कारिका कही है कि यद्यपि कोई नियोगपरक वाक्य नहीं है किन्तु इससे उसका अप्रामाण्य नहीं माना जा सकता, लोकमें जितने भी वाक्य प्रयुक्त होते हैं सब नियोग परक ही हों यह आवश्यक नहीं है। कोई अपने पुत्रका नाम विष्णुमित्र रखे तो उसके लिये वह नियोग नहीं खोजेगा। कर्मके स्वरूप बोधक विधिवाक्योंसे पूर्व भी मन्त्रवाक्योंका अन्वय होता है फिर स्वयंप्रकाश रसके विषयमें यह आक्षेप क्यों। रसका भी लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारसे अनुभव हो सकता है ।। २७ ।।

अर्थ—प्रमाणका प्रामाण्य इसीमें है कि वह सप्रयोजन हो और अज्ञात अर्थका ज्ञान करावे। शब्दकी कार्यपरकताका तो आचार्य (श्रीशंकराचार्य)-ने ही खण्डन किया है ।।२८।।

विवृति—प्राभाकारोंका मत है कि कार्यपरक (प्रवृत्तिपरक या निवृत्ति-परक) वाक्य ही प्रमाण होता है। रसके विषयमें कोई कार्यपरक वाक्य

देवताऽधिकृतिन्यायात् पदैरन्यपरैरपि ॥
प्रयोजनवदज्ञाताबाधितार्थमतिर्भवेद् ॥ २९ ॥
तस्मादन्यपरत्वे वा स्वातन्त्र्ये वा पदानि नः ॥
व्यञ्जयन्ति परानन्दं सहकार्यानुरूप्यतः ॥ ३० ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य्यवर्य्य-विश्वविश्रुत-सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रताक-श्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचिते श्रीभगवद्भक्ति-रसायने भक्तिविशेषनिरूपणं नाम तृतीयोल्लासः ।

श्रुत्युक्त नहीं इसका प्रामाण्य कैसे ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि शब्दकी कार्यपरकताका खण्डन श्री भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्यजीने ब्रह्मसूत्र भाष्यके समन्वयाधिकरणमें सयुक्तिक किया है। उसका पिष्टपेषण हम यहाँ क्यों करें। वास्तवमें प्रमाणकी प्रमाणता यही है कि वह अज्ञात अर्थका ज्ञापक हो और सप्रयोजन हो। ये दोनों रसके विषयमें उपलब्ध हैं जैसे "रसो वै सः" यह अज्ञात अर्थका ज्ञापन कराता है और 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इसमें प्रयोजननिर्देश भी है ॥ २८ ॥

अर्थ—देवताधिकरण न्यायसे अन्यपरक पदोंसे भी सप्रयोजन अज्ञात और अबाधित अर्थका बोध होता है ॥२९॥

विवृति—यहाँ यह शंका होती है कि यदि प्रयोजनवद् और अज्ञात-ज्ञापकको ही प्रमाण मानेंगे ? तो किसी एक तात्पर्यसे प्रयुक्त शब्दका उससे भिन्न अर्थमें भी प्रामाण्य होने लगेगा ? इसीका निराकरण इस कारिकामें किया गया है। तात्पर्य यह है कि शारीरकमीमांसा के प्रथमाध्याय तृतीय पादके देवताधिकरणके नवम सूत्रमें सूत्रकार भगवान् व्यास और भाष्यकार श्रीशंकरा-चार्यजीने अर्थवाद वाक्योंको प्रमाण मानकर यह स्वीकार किया है कि अपने अर्थसे भिन्नार्थक पदोंसे भी प्रयोजन अज्ञात और अबाधित अर्थका बोधक होता है ॥ २९ ॥

अर्थ—इसलिये हमारे मतसे पद अन्यपरक हों या स्वतंत्र, वे सहकारियों-के आनुरूप्यसे परानन्दस्वरूप रसको व्यक्त करते हैं ॥३०॥

विवृति—ग्रन्थकारने प्रारम्भमें ही प्रतिज्ञा की थी "तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि" इसलिये पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों दर्शनों-

से उन्होंने अपने मतकी पुष्टि करके अन्तमें उपसंहार स्वरूप अपने सिद्धान्तको पुनः दोहराया है — जैसे कि पूर्वोत्तर मीमांसाकारोंके मतमें पद स्वतन्त्र हो या अन्यपरक, वह अर्थबोधक होता ही है इसी प्रकार भक्तिरसके पद भी स्वतन्त्र या अन्य परक होकर भी विभावादि सहकारियोंके अनुरूप परमानन्दस्वरूप भक्तिरसके अभिव्यञ्जक होते हैं, यह निर्विवाद है ॥३०॥

साहित्याचार्य-पाण्डेय-श्रीजनार्दनशास्त्रिणा
रचिता "विवृतिः" पूर्णाऽभवद् भक्तिरसायने ॥१॥
मधुसूदनपादाब्जमधुपं मधुसूदनम्
प्रणम्य तत्कृतो सेयं "विवृति" र्हि समाप्यते ॥२॥

श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य-विश्वविश्रुतसर्वतन्त्रस्वतन्त्रताक-
श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचित श्रीभगवद्भक्तिरसायनमें
भक्तिरसनिरूपण नामक तृतीय उल्लासकी
श्रीजनार्दनशास्त्री पाण्डेय रचित
हिन्दीविवृति समाप्त हुई



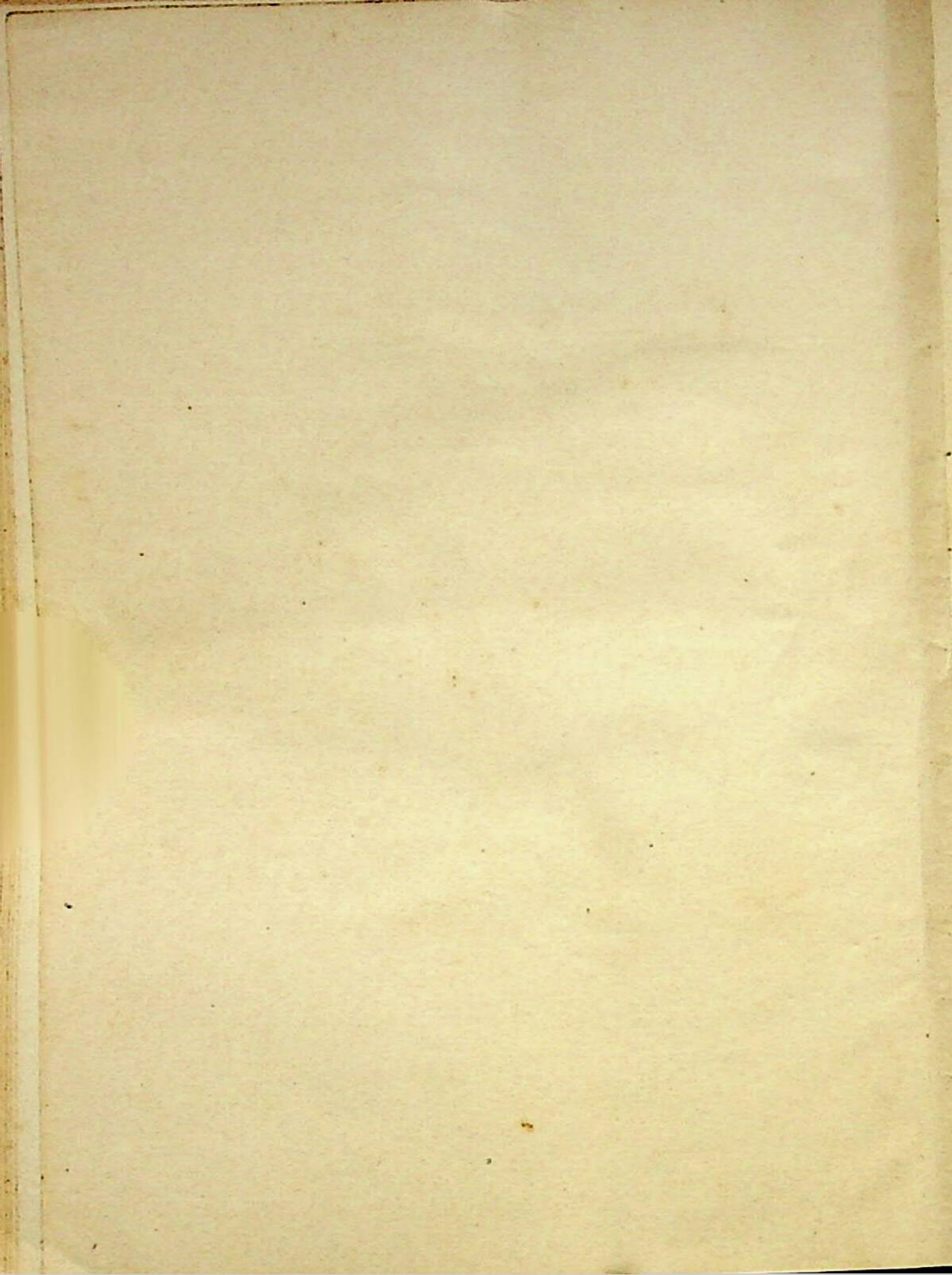
श्रीभगवद्भक्तिरसायनस्य

मूलश्लोकानुक्रमणी

———









श्रीजनार्दनशास्त्री पाण्डेय द्वारा सम्पादित एवं विवृत ग्रन्थ

क. प्राचीन पाण्डुलिपियोंसे संपादित, प्रथमबार मुद्रित—

ग्रन्थ	प्रकाशक	मूल्य
१. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह	सं० संस्कृत विश्वविद्यालय	१०)
२. गोरक्षसंहिता भाग १	,, ,,	५०)
३. ,, ,, २	,, ,,	२०)
४. तर्ककुतूहलम्	नित्यानन्द स्मारक समिति	७)
५. सांख्यदर्शन (दो टीकाएँ)	भारतमनीषा प्रकाशन	१५)
६. भुशुण्डि रामायण (पूर्व खंड)	विश्वविद्यालय प्रकाशन	१००)
७. कर्मकाण्डप्रदीप भाग १	गिरिजेश कुमार पाण्डेय	यन्त्रस्थ

ख. अन्य ग्रन्थ—

ग्रन्थ	प्रकाशक	मूल्य
८. भगवद्भक्तिरसायन	,, ,,	१०)
९. अन्योक्तिविलास	विश्वविद्यालय प्रकाशन	४)
१०. अलंकारप्रभा	मोतीलाल बनारसीदास	१)
११. मेघदूत	,, ,,	३)५०
१२. किरातार्जुनीय (१-६ सर्ग)	,, ,,	८)५०
१३. शिशुपालवध (१-४ ,,)	,, ,,	११)
१४. रघुवंश (१३-१४ ,,)	,, ,,	४)
१५. मनुस्मृति (२ अ०)	,, ,,	२)
१६. नीतिशतक	,, ,,	३)
१७. वेदान्तपरिभाषा	,, ,,	यंत्रस्थ
१८. सांख्य कारिका (गौड़पाद)	भारतीय विद्या प्रकाशन	समाप्त
१९. संस्कृत भारती (१-४ भाग)	बाल साहित्य प्रकाशन	५)